गायत्री की
उच्चस्तरीय
5 पाँच
साधनाएँ
श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री की उच्चस्तरीय पाँच साधनाएँ

लेखक :

तपोनिष्ठ वेदमूर्ति पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०११ मूल्य : १०.०० रुपये

सोऽहम् साधना का तत्त्वज्ञान और विधि-विधान

जीवात्मा जिन पाँच आवरणों में आबद्ध है, गायत्री उपासना में उनका दिग्दर्शन पाँच कोशों के रूप में कराया जाता है। गायत्री को कहीं-कहीं पंचमुखी चित्रित किया जाता है, उसका अभिप्राय यही है कि आत्मा पाँच आवरणों से ढँका हुआ है, जो उन्हें समझ लेता है, उनका अनावरण कर लेता है, वह आत्मसत्ता भगवती गायत्री का साक्षात्कार करता है। इसी शृंखला की पुस्तक 'गायत्री पंचमुखी और एकमुखी' में इस पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

साधना-विधान का जिक्र आने पर यह कहा गया है कि यह उच्चस्तरीय साधानाएँ यद्यपि साधक को सामान्य उपासक की अपेक्षा अत्यधिक और शीघ्र लाभान्वित करती हैं, तथापि यह पूर्णतः निरापद नहीं। कुछ विधान तो ऐसे होते हैं, जो परमाणु विखंडन की तरह क्षण भर में अद्‌भुत शक्ति का भंडार उपलब्ध करा देने वाले हैं, पर विज्ञान के विद्यार्थी जानते होंगे कि मैडम क्यूरी की मृत्यु ऐसे ही एक कठिन प्रयोग करते समय हो गई थी। उच्चस्तरीय साधनाओं की इसी कठिनाई को पार करने के लिए प्राचीनकाल से आरण्यक परंपरा रही है। उच्चस्तरीय साधना के इच्छुक इन आरण्यकों में रहकर योग्य मार्गदर्शकों के सान्निध्य-संरक्षण में ये साधनाएँ संपन्न किया करते थे। यह परंपरा आज यद्यपि रही नहीं, तथापि वह स्थान अपने स्थान पर ज्यों-के-त्यों हैं।

आज न तो उस तरह के आरण्यक रहे, न मार्गदर्शक सद्‌गुरु। इस तरह के सुयोग कहीं उपलब्ध भी हों तो इस व्यस्त और अभावग्रस्त

युग में हर किसी को इतना समय और सुविधा भी नहीं रहती कि वे दीर्घकाल तक बाहर रहकर साधनाएँ कर सकें। इस कठिनाई का हल उन निरापद साधनाओं के प्रशिक्षण द्वारा किया जा रहा है, जिन्हें कोई भी व्यक्ति सामान्य गृहस्थ के उत्तरदायित्वों को निभाते हुए भी घर पर ही रहकर कर सके। तीन प्राणायामों का उल्लेख 'गायत्री की प्रचंड प्राण ऊर्जा' पुस्तक में किया गया है। गायत्री कुंडलिनी अथवा पंचकोशों का अनावरण नाम कोई भी लें वस्तुतः वह सभी प्राण-साधनाओं के ही पर्याय हैं। पंचाग्नि विद्या भी उसे ही कहते हैं। सावित्री-साधना भी प्राण-साधना का ही दूसरा नाम है। स्पष्टतः प्राणायाम साधना की भूमिका इन साधनाओं में प्रमुख रहती है, अन्य साधनाओं के पाँच विधान भी ऐसे हैं, जिनका अभ्यास कोई भी व्यक्ति घर पर रहकर भी कर सकता है। ये हैं—(१) गायत्री का अजपा जप या सोऽहम् साधना (२) खेचरी मुद्रा (३) शक्तिचालिनी मुद्रा (४) त्राटक-साधना तथा (५) नादयोग। इन पाँच साधनाओं में सोऽहम् साधना या हंसयोग की महत्ता सर्वाधिक है।

प्राणायाम के दो आधार हैं—(१) श्वास-प्रश्वास क्रिया का विशिष्ट विधि-विधान, कृत्य-उपकर्म द्वारा मंथन। (२) प्रचंड शक्ति द्वारा उत्पन्न चुंबकत्व के सहारे प्राण-चेतना को खींचने और धारण करने का आकर्षण। मंथन और आकर्षण का द्विविध समन्वय ही प्राणयोग का उद्देश्य पूरा करता है। इनमें से किसी एक को ही लेकर चला जाए तो ध्यानयोग का अभीष्ट उद्देश्य पूरा न हो सकेगा। गहरी साँस लेना (डीप ब्रीदिंग) फेंफड़ों का व्यायाम भी है। इसकी कई विधियाँ शरीरशास्त्रियों ने ढूँढ़ निकाली हैं और उनका उपयोग स्वास्थ्य-लाभ के लिए किया है। अमुक विधि से दौड़ने से, दंड-बैठक, सूर्य नमस्कार आदि क्रियाएँ करने से भी यह प्रयोजन एक सीमा तक पूरा हो जाता है और फेंफड़े मजबूत होने के साथ-साथ स्वास्थ्य सुधारने में सहायता मिलती है। इस श्वास क्रिया की विविधता

का साधना-विज्ञान में चौंसठ प्रकार के विधानों का वर्णन है। भारत के बाहर इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की विधियों का प्रचलन है। यह प्राणायाम का एक भाग भी है और इससे उसका स्वास्थ्य-संवर्द्धन वाला प्रयोजन पूरा होता है।

दूसरा पक्ष संकल्प है, जिसके निमित्त अमुक मंत्रों का उच्चारण, अमुक आकृतियों का, अमुक ध्वनियों का ध्यान जोड़ा जाता है। इस ध्यान में दिव्य-चेतना शक्ति के रूप में प्राणतत्त्व के शरीर में प्रवेश करने की आस्था विकसित की जाती है। आस्था का चुंबकत्व, संकल्प का आकर्षण मात्र कल्पना की उड़ान नहीं है, विचार विज्ञान के ज्ञाता समझते हैं कि संकल्प कितना सशक्त तत्त्व है। उस आधार पर समूचा मनःसंस्थान—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अंतःकरण चतुष्टय काम करता है और उसी से शरीर की विविध विध, क्रियाओं की हलचलें गतिशील होती हैं। शरीर और मन के संयोग से ही कर्म बनते हैं और उन्हीं के भले-बुरे परिणाम सुख-दुःख के, हानि-लाभ के रूप में सामने आते रहते हैं। संक्षेप में यहाँ जो कुछ भी बन-बिगड़ रहा है, वह संकल्प का ही फल है। प्राणी अपने संकल्प के अनुरूप ही अपना स्तर बनाते, बढ़ाते और बदलते हैं। समष्टि के संकल्प से सार्वजनीन वातावरण बनता है। ब्रह्म के संकल्प से ही इस विश्व के सृजन, अभिवर्द्धन एवं परिर्वतन का क्रम चल रहा है। असंतुलन को संतुलन में बदलने की आवश्यकता जब ब्रह्मचेतना की होती है, तब उसका संकल्प ही अवतार रूप में प्रकट होता है और अभीष्ट प्रयोजन पूरा करके चला जाता है।

योगाभ्यास में जिस श्रद्धा-विश्वास को आत्मिक प्रगति का आधारस्तंभ माना गया है, वह तथ्यतः भावभरा सुनिश्चित संकल्प भर ही है। साधनात्मक कर्मकांडों की शक्ति अधिक-से-अधिक एक-चौथाई मानी जा सकती है। तीन-चौथाई सफलता तो संकल्प की प्रखरता पर अवलंबित रहती है। संकल्प शिथिल हो तो कई तरह

के क्रियाकृत्य करते रहने पर भी योग-साधना के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अर्जित न की जा सकेगी।

प्राणायाम का प्राण यह संकल्प ही है। योगकृत्य तो उसका कलेवर भर है। सफल प्राणयोग के लिए जहाँ निर्धारित विधि-विधान को तत्परतापूर्वक क्रियान्वित करना पड़ता है,वहाँ संकल्प को भी प्रखर रखते हुए उस साधना को सर्वांगपूर्ण बनाना पड़ता है।

प्राणायामों के विधान एवं स्वरूप अनेक हैं, पर इनमें से हमें दो ही पर्याप्त जँचे हैं। एक वह जो आत्मशुद्धि के षड्कर्मों में सामान्य रूप से किया जाता है, जो सर्वसुलभ और बाल कक्षा के छात्रों तक के लिए सुविधाजनक है। उसमें श्वास पर नियंत्रण किया जाता है। धीरे-धीरे भरपूर श्वास खींचना, जब तक रोका जा सके उसे रोकना, धीरे-धीरे वायु को बाहर निकालना और फिर कुछ समय श्वास को बाहर रोके रहना, बिना श्वास लिए ही काम चलाना। वह प्राणायाम इतना भर है, उससे मनोनिग्रह की तरह श्वास निग्रह का एक बड़ा प्रयोजन पूरा होता है। मन के निग्रह का प्राण निग्रह के साथ घनिष्ठ संबंध है। प्राण निग्रह करने के लिए प्राणायाम साधक के लिए मनोनिग्रह सरल पड़ता है। उस प्राणायाम में प्राणतत्त्व का शरीर में प्रवेश, स्थापना, विकास, स्थिरीकरण हो रहा है, ऐसी भावना की जाती है और ध्यान किया जाता है कि जो भी विकृतियाँ तीनों शरीरों में थीं वे सभी श्वास के साथ निकलकर बाहर जा रही हैं।

फेफड़े अपना कार्य संचालन करके सारे शरीर की गतिविधियों को आगे धकेलते रहने के लिए श्वास द्वारा हवा खींचते हैं, यह प्रथम चरण हुआ। दूसरे चरण में रक्तकोष्ठ प्रविष्ट वायु में से केवल ऑक्सीजन तत्त्व खींचते हैं और अपनी खुराक पाते हैं। ये दो क्रियाएँ शारीरिक हैं और साधारण रीति से होती रहती हैं। तीसरा चरण विशिष्ट है, संकल्प शक्ति वायु के अंतराल में घुले हुए प्राण को खींचती है। प्राणचेतन है, वह संकल्प चेतना द्वारा ही खींचा जा

सकता है। प्राणायामकर्त्ता का संकल्प, प्राणसत्ता के अस्तित्व, उसके खींचे जाने तथा धारण किए जाने, तीनों शरीरों पर उसकी सुखद प्रतिक्रिया होने के संबंध में जितना सघन होगा, उतना ही उसका चमत्कार उत्पन्न होगा। संकल्प रहित अथवा दुर्बल धुँधली भाव-संवेदना का प्राणायाम श्वास व्यायाम भर बनकर रह जाता है और उसका लाभ श्वास-संस्थान तक में मिलने तक सीमित रह जाता है। यदि प्राणतत्त्व का चेतनात्मक लाभ उठाना हो तो, उसके लिए श्वास क्रिया से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्राणायाम के लिए नितांत आवश्यक संकल्प बल को जगाया जाना चाहिए। यह निष्ठा परिपक्व की जानी चाहिए कि प्राण का आगमन, प्रवेश, कण-कण में उसका संस्थापन एवं शक्ति-अनुदान सुनिश्चित तथ्य है, इसमें संदेह के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं है।

संध्या-वंदन के समय प्रयुक्त होने वाला प्राणायाम उपासना क्षेत्र में प्रवेश करने वाले प्रत्येक छात्र के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसके बिना मनोनिग्रह में गड़बड़ी बनी रहेगी और प्रत्याहार धारणा एवं ध्यान के अगले चरण ठीक तरह से उठा सकना कठिन पड़ेगा।

उच्चस्तरीय प्राणायामों में '**सोऽहम् साधना**' को सर्वोपरि माना गया है; क्योंकि उसके साथ जो संकल्प जुड़ा हुआ है, वह चेतना को उच्चतम स्तर तक उछाल देने में, जीव और ब्रह्म का समन्वय करा देने में विशेष रूप से समर्थ है। इतनी इस स्तर की भाव-संवेदना और किसी प्राणायाम में नहीं है। अस्तु, उसे सामान्य प्राणायामों की पंक्ति में न रखकर स्वतंत्र नाम दिया गया है। इसे 'हंसयोग' कहा गया है, हंसयोग का माहात्म्य, प्रयोग और परिणाम इतने विस्तारपूर्वक साधना शास्त्र में लिखा है कि उसे एक स्वतंत्र योग शाखा मानने जैसी स्थिति बन जाती है।

'**सोऽहम् साधना**' को 'अजपा जप' अथवा प्राण गायत्री भी कहा गया है। मान्यता है कि श्वास के शरीर में प्रवेश करते समय

'स' जैसी, साँस रुकने के तनिक से विराम समय में 'ओ' जैसी और बाहर निकलते समय 'हं' जैसी अत्यंत सूक्ष्म ध्वनि होती रहती है। इसे श्वास क्रिया पर चिरकाल तक ध्यान केंद्रित करने की साधना द्वारा सूक्ष्म कर्णेंद्रिय द्वारा सुना जा सकता है। चूँकि ध्वनि सूक्ष्म है स्थूल नहीं, इसलिए उसे अपने छेद वाले कानों से नहीं सूक्ष्मशरीर में रहने वाली सूक्ष्म कर्णेंद्रिय द्वारा शब्द तन्मात्रा के रूप में ही सुना जा सकता है। कोई खुले कानों से इन शब्दों को सुनने का प्रयत्न करेगा तो उसे कभी भी सफलता न मिलेगी।

नादयोग में मात्र सूक्ष्म कर्णेंद्रिय द्वारा शंख, घड़ियाल, बादल, झरना, वीणा जैसे कितने ही दिव्य शब्द सुने जाते हैं, किंतु हंसयोग में नासिका एवं कर्णेंद्रिय की समन्वित सूक्ष्म शक्ति का दोहरा लाभ मिलता है। 'सोऽहम्' को अनाहत शब्द कहा गया है। आहत जो कहीं कोई चोट लगने से उत्पन्न होते हैं। अनाहत वे हैं, जो बिना किसी आघात के उत्पन्न होते हैं। नादयोग में जो दिव्य ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, उनके बारे में दो मान्यताएँ हैं। एक यह है कि प्रकृति के अंतराल—सागर में पाँच तत्त्वों और सत् , रज्, तम्,—इन तीन गुणों की जो उथल-पुथल मचती रहती है, यह उनकी प्रतिक्रिया है। दूसरे यह माना जाता है कि शरीर के भीतर भी रक्त-संचार, आकुंचन-प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास जैसी क्रियाएँ अनवरत रूप से चलती रहती हैं। यह शब्द उन हलचलों से उत्पन्न होते हैं। अस्तु, यह आहत हैं। नादयोग को भी कई जगह अनाहत कहा गया है, पर आम मान्यता यही है कि वे आहत हैं। मुख से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, वे भी ओंठ, जीभ, कंठ, तालू, आदि अवयवों की मांसपेशियों की उठक-पटक से उत्पन्न होते हैं, अस्तु, जप भी आहत है। आहत से अनाहत का महत्त्व अधिक माना गया है। अनाहत ब्रह्मचेतना द्वारा निश्चित और आहत प्रगतिगत हलचलों से उत्पन्न होते हैं। अस्तु, उनका महत्त्व भी ब्रह्म और प्रकृति की तुलना जैसा ही न्यूनाधिक है।

तत्त्वदर्शियों का मत है कि जीवात्मा के गहन अंतराल में उसकी आत्मबोध प्रज्ञा स्वयमेव जगी रहती है और उसी स्फुरणा से 'सोऽहम्' का आत्मबोध अजपा जाप बनकर स्वसंचालित बना रहता है। संस्कृत भाषा के स+अहम् शब्दों से मिलकर 'सोऽहम्' का आविर्भाव माना जाता है। वहाँ व्याकरण शास्त्र की संधि-प्रक्रिया के झंझट में पड़ने की जरूरत नहीं है। जो सनातन ध्वनियाँ चल रही हैं, वे व्याकरणशास्त्र के अनुकूल हैं या नहीं, यह सोचना व्यर्थ है। देखना इतना भर है कि इस सनातन शब्द-संचार का क्या अर्थ बैठता है? 'सो' अर्थात 'वह' वह अर्थात 'परमात्मा', अह्म अर्थात जीवात्मा। दोनों का समन्वय 'सोऽहम्'। आत्मा और परमात्मा एक है, यह अद्वैत सिद्धांत का समर्थन है। तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, शिवोऽहम् सच्चिदानंदोऽहम्, शुद्धोसि, बुद्धोसि निरंजनोसि जैसे वाक्यों में इसी दर्शन का प्रतिपादन है, उनमें जीव और ब्रह्म की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन है।

'सोऽहम्' उपासना के निमित्त किए गए प्राणायाम में इसी अविज्ञात तथ्य को प्रत्यक्ष करने का, प्रसुप्त को जगाने का प्रयत्न किया जाता है। जीव अपने आप को शरीर मान बैठा है, उसी की सुविधा एवं प्रसन्नता की बात सोचता है, उसी के लाभ-प्रयत्नों में संलग्न रहता है। काया के साथ जुड़े हुए व्यक्ति और पदार्थ ही उसे अपने लगते हैं और उसी सीमित संबंध-क्षेत्र तक ममत्व को सीमित करके अन्य सबको पराया समझता रहता है। 'अपनों के लाभ के लिए 'परायों' को हानि पहुँचाने में उसे संकोच नहीं होता। यही है मायामग्न, भव-बंधनों में जकड़े हुए मोहग्रस्त जीव की स्थिति। इसी में बँधे रहने के कारण उसे स्वार्थ के, व्यर्थ के अनर्थ के कामें में संलग्न रहना पड़ता है। यही स्थिति प्राणी को अनेकानेक आधि-व्याधियों में उलझाती और शोक-संताप के गर्त में धकेलती है, इससे बचा और उबरा जाए, इसी समस्या को हल करने के लिए आत्मज्ञान एवं साधना विज्ञान का ढाँचा खड़ा किया गया है।

'सोऽहम्' को सद्ज्ञान, तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान कहा गया है। इसमें आत्मा को अपनी वास्तविक स्थिति समझने, अनुभव करने का संकेत है। 'वह परमात्मा मैं ही हूँ' इस तत्त्वज्ञान में मायामुक्ति स्थिति की शर्त जुड़ी हुई है। नर-कीट, नर-पशु और नर-पिशाच जैसी निकृष्ट परिस्थितियों में घिरी अहंता के लिए इस पुनीत शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। ऐसे तो रावण, कंस, हिरण्यकशियपु जैसे अहंकारग्रस्त आततायी ही लोगों के मुख से अपने को ईश्वर कहलाने के लिए बाधित करते थे। अहंकार-उन्मत्त मनःस्थिति में वे अपने को वैसा समझते भी थे, पर इससे बना क्या? उनका अहंकार ही ले डूबा। 'सोऽहम्' साधना में पंचतत्त्वों और तीन गुणों से बने घिरे शरीर को ईश्वर मानने के लिए नहीं कहा गया है। ऐसी मान्यता तो उलटा अंहकार जगा देगी और उत्थान के स्थान पर पतन का नया कारण बनेगी, यह दिव्य-संकेत आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन है। वह वस्तुतः ईश्वर का अंश है। समुद्र और लहरों की, सूर्य और किरणों की मटाकाश और घटाकाश की, ब्रह्मांड और पिंड की, आग और चिनगारी की उपमा देकर परमात्मा और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए मनीषियों ने यही कहा है कि मल-आवरण विक्षेपों से, कषाय-कल्मषों से मुक्त हुआ जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है। दोनों की एकता में व्यवधान मात्र अज्ञान का है, यह अज्ञान ही अहंता के रूप में विकसित होता है और संकीर्ण स्वार्थपरता में निमग्न होकर व्यर्थ चिंतन तथा अनर्थ कार्य में निरत रहकर अपनी दुर्गति अपने आप बनाता है। साधना का उद्देश्य मनःक्षेत्र में भरी कुंठाओं और शरीर-क्षेत्र में अभ्यस्त कुत्साओं के निराकरण के अतिरिक्त और कुछ नही हैं। सर्वतोमुखी निर्मलता का अभिवर्द्धन ही ईश्वरप्राप्ति की दिशा में बढ़ने वाला महान प्रयास माना गया है। 'सोऽहम साधना' की प्रतिक्रिया यही होनी चाहिए?

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' की उक्ति धर्मशास्त्रों में अनेक स्थानों पर लिखी पाई जाती है, अनेक धर्मोपदेशकों द्वारा आएदिन

सुनी जाती है। उसे सामान्य बुद्धि जानती और मानती भी है, पर इतने भर से बनता कुछ नहीं। यह मान्यता अंत:करण के गहनतम स्तर की गहराई तक उतरनी चाहिए। गहन आस्था बनकर प्रतिष्ठापित होने वाली श्रद्धा ही अंत:प्रेरणा बनती है और उसी के धकेले हुए मस्तिष्क तथा शरीररूपी सेवकों को कार्यशील होना पड़ता है। सोऽहम–तत्त्वज्ञान यदि अंतरात्मा की प्रखर श्रद्धा के रूप में विकसित हो सके तो उसका परिणाम सुनिश्चित रूप में दिव्य जीवन जैसा कायाकल्प बनकर सामने आना चाहिए। तब व्यक्ति को उसी स्तर पर सोचना होगा जिस स्तर पर ईश्वर सोचता है और वही करना होगा जो ईश्वर करता है। एकता की स्थिति में दोनों का स्वरूप भी एक हो जाता है। नाला जब गंगा में मिलता है और बूँद समुद्र में घुलती है तो दोनों का स्वरूप एवं स्तर एक हो जाता है। ब्रह्मभाव से जगा हुआ जीव अपने चिंतन और कर्मक्षेत्र में सुविकसित स्तर का देवमानव ही दृष्टिगोचर होता है।

कुंडलिनी जागरण के लिए प्रयुक्त होने वाली सोऽहम् साधना अजपा गायत्री के विज्ञान एवं विधान के समन्वय को हंसयोग कहते है। हंसयोग साधना का महत्त्व और प्रतिफल बताते हुए योगविद्या के आचार्यों न कहा है—

सर्वेषु देहेषु व्यारतो वर्तते। यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा मृत्युमत्येति।

—हंसोपनिषद् मंत्र–५

जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल रहता है, उसी प्रकार समस्त वेदों में 'हंस' ब्रह्म रहता है। जो उसे जान लेता है, सो मृत्यु से छूट जाता है।

सोऽहम् ध्वनि को निरंतर करते रहने से उसका एक शब्द चक्र बन जाता है, जो उलटकर हंस सदृश प्रतिध्वनित होता है। इसी आधार पर उस साधना का एक नाम हंसयोग भी रखा गया है।

हंसो हंसोऽहमित्येवं पुनरावर्त्तनक्रमात् ।
सोऽहं सोऽहं भवेन्नूनमिति योगविदो विदुः ॥

—योग रसायनम्

हंसो-हंसो—इस पुनरावर्तित क्रम से जप करते रहने पर शीघ्र ही 'सोहं-सोहं' ऐसा जप होने लगता है। योगवेत्ता इसे जानते हैं।

अभ्यासानन्तरं कुर्याद् गच्छँस्तिष्ठन्स्वपन्नपि।
चिंतनं हंसमन्त्रस्य योगसिद्धिकरं परम्॥

—योग रसायनम् ३०३

अभ्यास के अनंतर चलते,बैठते और सोते समय भी हंस मंत्र का चिंतन (साँस लेते समय 'सो', छोड़ते समय 'हं' का चिंतन अभ्यास) परम सिद्धिदायक है। इसे ही 'हंस', 'हंसो', 'सोऽहम्' मंत्र कहते हैं।

जब मन उस हंस-तत्त्व में लीन हो जाता है, तो मन के संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं और शक्ति रूप, ज्योति रूप, शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरंजन ब्रह्म का प्रकाश प्रकाशित होता है।

प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः ।
हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम्॥
हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम्।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम्॥
सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः।
हंसज्योतिरनूपम्यं देव मध्ये व्यवस्थितम्॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्

प्राणियों की देह में भगवान 'हंस' रूप में अवस्थित हैं। हंस ही परम सत्य है, हंस ही परम बल है।

समस्त देवताओं के बीच 'हंस' ही परमेश्वर है, हंस ही परम वाक्य है, हंस ही वेदों का सार है, हंस परम रुद्र है, हंस ही परात्पर ब्रह्म है।

समस्त देवों के बीच हंस अनुपम ज्योति बनकर विद्यमान है।

सदा तन्मयतापूर्वक हंस मंत्र का जप निर्मल प्रकाश का ध्यान करते हुए करना चाहिए।

नभस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात्।
अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम्॥
स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते।
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः।
मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम्॥
हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम्॥
हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम्॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद् २०-३४

जो हृदय में अवस्थित अनाहत ध्वनि सहित प्रकाशवान चिदानंद 'हंस' तत्त्व को जानता है, सो 'हंस' ही कहा जाता है।

जो अमृत से अभिसिंचन करते हुए हंस तत्त्व का जप करता है, उसे सिद्धियों और विभूतियों की प्राप्ति होती है।

इस संसार में हंस विद्या के समान और कोई साधन नहीं। इस महाविद्या को देने वाला ज्ञानी सब प्रकार सेवा करने योग्य है।

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशंकः खमुत्क्रमेत्।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारंतरते सदा ॥ २० ॥

—क्षुरिकोपनिषद्

जिस प्रकार हंस स्वच्छंद होकर आकाश में उड़ता है, उसी प्रकार हंसयोग का साधक सर्वबंधनों से विमुक्त होता है।

'ह' और 'स' अक्षरों की पृथक-पृथक विवेचना भी शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से की है। इन अक्षरों से कई प्रकार के अर्थ निकलते हैं और दोनों के योग से साधक को एक उपयुक्त धारा मिलती है।

हकारोनिर्गमेप्रोक्तः सकारेणप्रवेशनम्।
हकारः शिवरूपेण सकारः शक्तिरुच्यते॥

—शिव स्वरोदय-५१

श्वास के निकलने में हकार और प्रविष्ट में सकार होता है। हकार शिवरूप और सकार शक्ति रूप कहलाता है।

हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसौरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥१३३॥
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयौरैक्यं यदा भवेत् ॥१३४॥

—योग शिखोपनिषद्

हकार से सूर्य या दक्षिण स्वर होता है और सकार से चंद्र या वाम स्वर होता है। इस सूर्य-चंद्र दोनों में समता स्थापित हो जाने का नाम हठयोग है। हठ द्वारा सब दोषों की कारणभूत जड़ता का नाश हो जाता है और तब साधक क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) से एकता प्राप्त कर लेता है।

जीवात्मा सहज स्वभाव सोऽहम् का जप श्वास-प्रश्वास क्रिया के साथ-साथ अनायास ही करता रहता है, यह संख्या औसतन चौबीस घंटे में २१६०० के लगभग हो जाती है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेयमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्त्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥

—गोरक्ष संहिता १/४२-४३

यह जीव हकार की ध्वनि से बाहर आता है और 'स' कार की ध्वनि से भीतर जाता है, इस प्रकार वह सदा हंस-हंस जप करता रहता है। इस तरह एक दिन-एक रात में जीव इक्कीस हजार छह सौ मंत्र सदा जपता रहता है

संस्कृत व्याकरण के आधार पर सोऽहम् का संक्षिप्त रूप ओम हो जाता है।

सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिं च पूर्वरूपाख्यां ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥

सोऽहम् पद में सकार और हकार का लोप करके संधि योजना करके वह प्रणव (ओं३म्कार) रूप हो जाता है।

हंसयोग के अभ्यास का आसाधरण महत्त्व है, उसे कुंडलिनी जागरण साधना का तो एक अंग ही माना गया है।

विभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसयाश्रिता॥

—तंत्र सार

कुंडलिनी शक्ति आत्मक्षेत्र में हंसारूढ़ होकर विचरती है।

गायत्री का वाहन हंस कहा गया है। यह पक्षी विशेष न होकर हंसयोग ही समझा जाना चाहिए। यों हंस पक्षी में भी स्वच्छता, धवलता, नीर-क्षीर विवेकयुक्त आहार विशेषताओं की ओर इंगित करते हुए निर्मल जीवन, सत्-असत् निर्धारण एवं नीतियुक्त उपलब्धियों को ही अंगीकार किया जाना जैसी उत्कृष्टताओं का प्रतीक माना गया है, किंतु तात्त्विक दृष्टि से गायत्री से हंसवादिता होना उसकी प्राप्ति के लिए हंसयोग की—सोऽहम् की साधना का निर्देश माना जाना ही उचित है।

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो नाम सदा शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत्॥

—प्रपंच तंत्र

देह देवालय है, इसमें जीव रूप में शिव विराजमान हैं। इसकी पूजा वस्तुओं से नहीं सोऽहम्-साधना से करनी चाहिए।

अंतःकरण में हंसवृत्ति की स्थापना की यह साधना अजपा गायत्री भी कही जाती है।

अजपा गायत्री का महत्त्व बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

अजपा नाम गायत्री ब्रह्मविष्णुमहेश्वरी।
अजपां जपते यस्तां पुनर्जन्म न विद्यते॥

—अग्निपुराण २/४/२६

अजपा गायत्री ब्रह्म, विष्णु, रुद्र की शक्तियों से परिपूर्ण है, इसका जप करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता है।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—गोरक्ष पद्धति १/४४

इसका नाम अजपा गायत्री है, जो कि योगियों के लिए मोक्ष को देने वाली है। इसके संकल्प मात्र से सब पापों से छुटकारा हो जाता है।

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥

—गोरक्ष पद्धति १/४५

इसके समान न कोई विद्या है, न इसके समान कोई ज्ञान ही भूत-भविष्य काल में हो सकता है।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा॥

—शिव स्वरोदय

अजपा गायत्री योगियों के लिए मोक्ष देने वाली है।

श्वास लेते समय 'सो' ध्वनि का और छोड़ते समय 'हम' ध्यान के प्रवाह को सूक्ष्म श्रवण शक्ति के सहारे अंतः भूमिका में अनुभव करना, यही है संक्षेप में 'सोऽहम्' साधना।

वायु जब छोटे छिद्र में होकर वेगपूर्वक निकलती है, तो घर्षण के कारण ध्वनि-प्रवाह उत्पन्न होता है, बाँसुरी से स्वरलहरी निकलने का यही आधार है। जंगलों में जहाँ बाँस बहुत उगे होते हैं, वहाँ अकसर बाँसुरी जैसी ध्वनियाँ सुनने को मिलती हैं। कारण कि बाँसों में कहीं-कहीं कीड़े छेद कर देते है और उन छेदों से जब हवा वेगपूर्वक टकराती है तो उसमें उत्पन्न स्वर-प्रवाह सुनने को मिलता है। वृक्षों से टकराकर जब द्रुतगति से हवा चलती है, तब भी सन-सनाहट सुनाई पड़ती है, यह वायु के घर्षण की ही प्रतिक्रिया है।

नासिका छिद्र भी बाँसुरी के छिद्रों की तरह हैं, उनकी सीमित परिधि में होकर जब वायु भीतर प्रवेश करेगी तो वहाँ स्वभावतः ध्वनि उत्पन्न होगी। साधारण श्वास-प्रश्वास के समय भी वह उत्पन्न होती है, पर इतनी धीमी रहती है कि कानों के छिद्र उन्हें सरलतापूर्वक नहीं सुन सकते। प्राणयोग की साधना में गहरे श्वासोच्छ्वास लेने पड़ते हैं। प्राणायाम का मूलस्वरूप ही यह है कि श्वास जितनी अधिक गहरी, जितनी मंदगति से ली जा सके लेनी चाहिए और फिर कुछ समय भीतर रोककर धीरे-धीरे उस वायु को पूरी तरह खाली कर देना चाहिए। गहरी और पूरी साँस लेने में स्वभावतः नासिका छिद्रों से टकराकर उत्पन्न होने वाला ध्वनि-प्रवाह और भी अधिक तीव्र हो जाता है। इतने पर भी वह ऐसा नहीं बन पाता कि खुले कानों से उसे सुना जा सके। कर्णेंद्रियों की सूक्ष्म चेतना में ही उसे अनुभव किया जा सकता है।

चित्त को श्वसन क्रिया पर एकाग्र करना चाहिए और भावना को इस स्तर की बनाना चाहिए कि उसे श्वास लेते समय 'सो' शब्द के ध्वनि-प्रवाह की मंद अनुभूति होने लगे। उसी प्रकार जब साँस छोड़ना पड़े तो यह मान्यता परिपक्व करनी चाहिए कि 'हम' ध्वनि-प्रवाह विनिर्मित हो रहा है। आरंभ में कुछ समय यह अनुभूति इतनी स्पष्ट नहीं होती, किंतु क्रम और प्रयास जारी रखने पर कुछ ही समय उपरांत इस प्रकार का ध्वनि-प्रवाह अनुभव में आने लगता है और उसे सुनने में न केवल चित्त ही एकाग्र होता है, वरन् आनंद का अनुभव होता है।

'सो' का तात्पर्य परमात्मा और हम् का जीव चेतना समझा जाना चाहिए। निखिल विश्व बह्मांड में संव्याप्त महाप्राण नासिका द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश करता है और अंग-प्रत्यंग में, जीवकोश तथा नाड़ी-तंत्र में प्रवेश करके उसको अपने संपर्क-संसर्ग का लाभ प्रदान करता है। यह अनुभूति 'सो' शब्द ध्वनि के साथ अनुभूति भूमिका में उतरनी चाहिए और 'हन्' शब्द के साथ जीव-भाव द्वारा

इस काय-कलेवर पर से अपना कब्जा छोड़कर चले जाने की मान्यता प्रगाढ़ की जानी चाहिए।

प्रकारांतर से परमात्मसत्ता का अपने शरीर और मन:क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित हो जाने की ही यह धारणा है। जीवभाव अर्थात स्वार्थवादी संकीर्णता, काम, क्रोध, लोभ, मोह भरी मद मत्सरता अपने को शरीर या मन के रूप में अनुभव करते रहने वाली आत्मा की दिग्भ्रांत स्थिति का नाम ही जीव भूमिका है। इस भ्रम-जंजाल भरे जीव-भाव को हटा दिया जाए तो फिर अपना विशुद्ध अस्तित्व ईश्वर के अविनाशी अंश आत्मा के रूप में ही शेष रह जाता है। काय-कलेवर के कण-कण पर परमात्मा के शासन की स्थापना और जीव धारण की बे-दखली यही है—सोहम् साधना का तत्त्वज्ञान। श्वास-प्रश्वास क्रिया के माध्यम से 'सो' और 'हम' ध्वनि के सहारे इसी भाव-चेतना को जाग्रत किया जाता है कि अपना स्वरूप ही बदल रहा है। अब शरीर और मन पर से लोभ-मोह का, वासना-तृष्णा का आधिपत्य समाप्त हो रहा है और उसके स्थान पर उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व के रूप में ब्रह्मसत्ता की स्थापना हो रही है। शासन- परिवर्तन जैसी यह भाव भूमिका है, जिसमें अनधिकारी-अनाचारी शासनसत्ता का तख्ता उलटकर उस स्थान पर सत्य, न्याय और प्रेम के संविधान वाली धर्मसत्ता का राज्याभिषेक किया जाता है। सोहम् साधना इसी अनुभूति स्तर को क्रमशः प्रगाढ़ करती चली जाती है और अंत:करण यह अनुभव करने लगता है कि अब उस पर असुरता का नियंत्रण नहीं रहा, उसका समग्र संचालन देवसत्ता द्वारा किया जा सकता है।

श्वास ध्वनि ग्रहण करते समय 'सो' और निकालते समय 'हम' की धारणा में लगना चाहिए। प्रयत्न करना चाहिए कि इन शब्दों के आरंभ में अति मंद स्तर की होने वाली अनुभूति में क्रमशः प्रखरता आती चली जाए। चिंतन का स्वरूप यह होना चाहिए कि साँस में घुले हुए भगवान अपनी समस्त विभूतियों और विशेषताओं

के साथ काय-कलेवर में भीतर प्रवेश कर रहे हैं। यह प्रवेश मात्र आवागमन नहीं है वरन प्रत्येक अवयव पर सघन आधिपत्य बन रहा है। एक-एक करके शरीर के भीतरी प्रमुख अंगों के चित्र की कल्पना करनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि उसमें भगवान की सत्ता चिरस्थायी रूप से समाविष्ट हो गई। हृदय, फुफ्फुस आमाशय, आँतें, गुरदे, जिगर, तिल्ली आदि में भगवान का प्रवेश हो गया। रक्त के साथ प्रत्येक नस,नाड़ी और कोशिकाओं पर भगवान ने अपना शासन स्थापित कर लिया।

बाह्य अंगों ने, पाँच कर्मेंद्रियों और पाँच ज्ञानेंद्रियों ने भगवान के अनुशासन में रहना और उसका निर्देश पालन करना स्वीकार कर लिया। जीभ वही बोलेगी जो ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में सहायक हो। देखना, सुनना, बोलना, चलना आदि इंद्रियजन्य गतिविधियाँ दिव्य निर्देशों का ही अनुगमन करेंगी। ज्ञानेंद्रिय का उपयोग वासना के लिए नहीं, मात्र ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए अनिवार्य आवश्यकता का धर्म संकट सामने आ खड़ा होने पर ही किया जाएगा। हाथ-पाँव मानवोचित कर्त्तव्यपालन के अतिरिक्त ऐसा कुछ न करेंगे जो ईश्वरीय सत्ता को कलंकित करता हो। मस्तिष्क ऐसा कुछ न सोचेगा जिसे उच्चादर्शों के प्रतिकूल ठहराया जा सके। बुद्धि कोई अनुचित न्याय विरुद्ध एवं अदूरदर्शी-अविवेक भरा निर्णय न करेगी। चित्त में अवांछनीय एवं निकृष्ट स्तरीय आकांक्षाएँ न जमने पाएँगी। अहंता का स्तर नर-कीटक जैसा नर-नारायण जैसा होगा।

यही हैं वे भावनाएँ जो शरीर और मन पर भगवान का शासन स्थापित होने के तथ्य को यथार्थ सिद्ध कर सकती हैं। यह सब उथली कल्पनाओं की तरह मनोविनोद भर नही रह जाना चाहिए वरन उसकी आस्था उतनी प्रगाढ़ होनी चाहिए कि इस भाव-परिवर्तन को क्रिया रूप में परिणत हुए बिना चैन ही न पड़े। सार्थकता उन्हीं विचारों की है जो क्रियारूप में परिणत होने की प्रखरता से भरे हों।

सोहम् साधना के पूर्वार्द्ध में अपने काय-कलेवर पर श्वसन क्रिया के साथ प्रविष्ट हुए महाप्राण की, परंब्रह्म की सत्ता स्थापना का इतना गहन चिंतन करना पड़ता है कि यह कल्पना स्तर की बात न रहकर एक व्यवहारिक यथार्थता के, प्रत्यक्ष तथ्य के रूप में प्रस्तुत—दृष्टिगोचर होने लगे।

इस साधना का उत्तरार्द्ध पाप निष्कासन का है। शरीर में से अवांछनीय इंद्रिय-लिप्साओं का, आलस्य-प्रमाद जैसी दुष्प्रवृतियों का, मन से लोभ-मोह जैसी तृष्णाओं का, अंत:स्थल से जीवभावी अहंता का निवारण-निराकरण हो रहा है। ऐसी भावनाएँ अत्यंत प्रगाढ़ होनी चाहिए। दुर्भावनाएँ और दुष्कृतियाँ, निकृष्टताएँ और दुष्टताएँ और हीनताएँ सभी निरस्त हो रही हैं, सभी पलायन कर रही हैं-यह तथ्य हर घड़ी सामने खड़ा दीखना चाहिए। अनुपयुक्तताओं के निरस्त होने के उपरांत जो हलकापन, जो संतोष, जो उल्लास स्वभावत: होता है और निरंतर बना रहता है, उसी का प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। तभी यह कहा जा सकेगा कि सोहम् साधना का उत्तरार्द्ध भी एक तथ्य बन गया।

सोहम् साधना के पूर्व भाग में श्वास लेते समय 'सो' ध्वनि के साथ जीवन सत्ता पर उस परंब्रह्म परमात्मा का शासन-आधिपत्य स्थापित होने का स्वीकृति है। उत्तरार्द्ध में 'हम' को, अहंता को विसर्जित करने का भाव है। साँस निकलने के साथ-साथ अहम् भाव का भी निष्कासन हुआ। अहंता ही लोभ और मोह की जननी है। शरीराभ्यास में जीव उसी की प्रबलता के कारण डूबता है। माया, अज्ञान, अंधकार, बंधन आदि की भ्रांतियाँ एवं विपत्तियाँ इस अहंता के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इसे विसर्जित कर देने पर ही भगवान का अंत:क्षेत्र में प्रवेश करना, निवास करना संभव होता है।

इस छोटे से मानवीय अंत:करण में दो के निवास की गुंजाइश नहीं पूरी तरह एक ही रह सकता है, दोनों रहे तो लड़ते-झगड़ते रहते हैं और अंतर्द्वंद्व की खींचतान चलती रहती है। भगवान को बहिष्कृत

करके पूरी तरह 'अहमन्यता' को प्रबल बना लिया जाए तो मनुष्य दुष्ट-दुर्बुद्धि क्रूरकर्मा असुर बनता है। अपनी कामनाएँ, भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ, ऐषणाएँ समाप्त करके ईश्वरीय निर्देशों पर चलने का संकल्प ही आत्मसमर्पण है। यही शरणागति है, यही ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त होते ही मनुष्य में देवत्व का उदय होता है, तब ईश्वरीय अनुभूतियाँ चिंतन में उत्कृष्टता और व्यवहार में आदर्शवादिता भर देती हैं। ऐसे ही व्यक्ति महामानव, ऋषि, देवता एवं अवतार के नाम से पुकारे जाते हैं। 'सो' में भगवान का शासन आत्मसत्ता पर स्थापित करने और 'हम' में अहंता का विसर्जन करने का भाव है। प्रकारांतर से इसे महान परिवर्तन का, आंतरिक कायाकल्प का बीजारोपण कह सकते हैं। 'सोहम् साधना' का यही है भावनात्मक एवं व्यवहारिक स्वरूप।

ईश्वर जीव को ऊँचा उठाना चाहता है, जीव ईश्वर को नीचे गिराना चाहता है। अस्तु, दोनों के बीच रस्साकसी चलती और खींचतान होती रहती है। न ईश्वर श्रेष्ठ जीवन क्रम देखे बिना संतुष्ट होता है और न अपनी न्याय-निष्ठा, कर्म-व्यवस्था, तथाकथित पूजा-पाठ के कारण छोड़ने को तैयार होता है। वह अपनी जगह अडिग रहता है और भक्त को तरह-तरह के उलाहने देने, शिकायतें करने, लाँछन लगाने की स्थिति बनी ही रहती है। भक्त ईश्वर को अपने इशारे पर नचाना भर चाहता है, उससे उचित अनुचित अनुदान, मनोकामनाएँ पूरी कराने की पात्रता-कुपात्रता परखने की आदत छोड़ देने का आग्रह करता रहता है। दोनों अपनी जगह पर अडिग रहें, दोनों की दिशाएँ एकदूसरे की इच्छा के प्रतिकूल बनी रहीं, तो फिर एकता कैसे हो ? सामीप्य-सान्निध्य कैसे सधे ? ईश्वरप्राप्ति की आशा कैसे पूर्ण हो ?

इस कठिनाई का समाधान 'सोहम्' साधना के साथ जुड़े हुए तत्त्वज्ञान में सन्निहित है। दोनों एकदूसरे से गुंथ जाएँ, परस्पर विलीनीकरण हो जाए। भक्त अपने आप को अंतःकरण, आकांक्षा

एवं अस्तित्व को पूरी तरह समर्पित कर दे और उसी के दिव्य संकेतों पर अपनी दिशाधाराओं का निर्धारण करे। इस स्थिति की प्रतिक्रिया द्वैत की समाप्ति और अद्वैत की प्राप्ति के रूप में होती है। जीव ने ब्रह्म को समर्पण किया है, ब्रह्म की सत्ता स्वभावत: जीवधारी में अवतरित हुई दृष्टिगोचर होने लगेगी। समर्पण एक पक्ष से आरंभ तो होता है, पर उसकी परिणति उभयपक्षीय एकता में होती है। यही प्रेम योग का रहस्य है, यही भक्त के भगवान बनने का तत्त्वज्ञान है। ईंधन जब अग्नि को समर्पण करता है, तो वह भी ईंधन न रहकर आग बन जाता है। बूँद जब समुद्र में विलीन होती है तो उसकी तुच्छता असीम विशालता में परिणत हो जाती है। नमक और पानी, दूध और चीनी जब मिलते हैं तो दोनों की पृथकता समाप्त होकर सघन एकता बनकर उभरती है। यही है वेदांत अनुमोदित जीवन-लक्ष्य की पूर्ति, परमपद की प्राप्ति—इसी स्थिति को 'अद्वैत' कहते हैं। **शिवोहम् सच्चिदानन्दोहम्, तत्त्वमसि, अयमात्मा-ब्रह्म** की अनुभूति इसी सर्वोत्कृष्ट अंत:स्थिति पर पहुँचे हुए साधक को होती है। इसी को ईश्वरप्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार एवं ब्रह्म आदि नामों से पूर्णता के रूप में कहा गया है।

खेचरी मुद्रा की प्रतिक्रिया और उपलब्धि

उच्चस्तरीय साधनाओं में खेचरी मुद्रा को रसानुभूति का, दिव्य आनंद का मूल स्रोत माना गया है। यह मुख्यतः जीभ और तालू गह्वर की साधना है, इस साधना में लंबी जिह्वा का बड़ा महत्त्व होता है। इसलिए खेचरी मुद्रा की साधना के लिए हठयोगी जीभ को लंबी करके काक चक्षु तक पहुँचाने के लिए जिह्वा पर काली मिर्च, शहद, घृत का लेपन करके उसे थन की तरह दुहते, खींचते और लंबी करने का प्रयत्न करते हैं। जीभ के नीचे वाली पतली त्वचा को काटकर अधिक पीछे तक मुड़ सकने योग्य उसे बनाया जाता है। ये दोनों ही क्रियाएँ सर्वसाधारण के उपयुक्त नहीं हैं, इनमें तनिक भी भूल होने से जिह्वा तंत्र ही नष्ट हो सकता है अथवा दूसरी अन्य विपत्तियाँ आ सकती हैं। अस्तु, यदि सर्वजनीन एवं जोखिम रहित उपासनाएँ अभीष्ट हों तो, शारीरिक अवयवों पर अनावश्यक दबाव न डालकर सारी प्रक्रिया को ध्यानपरक भावना मूलक ही रखना होगा।

खेचरी मुद्रा का भावपक्ष ही वस्तुतः उस प्रक्रिया का प्राण है। मस्तिष्क मध्य को, ब्रह्मरंध्र अवस्थित सहस्रार को अमृतकलश माना गया है और वहाँ से सोमरस स्रवित होते रहने का उल्लेख है। जिह्वा को जितनी सरलतापूर्वक पीछे तालू से सटाकर जितना पीछे ले जा सकना हो उतना पीछे ले जाना चाहिए। 'काक चंचु' से बिलकुल न सट सके, कुछ फासले पर रह जाए तो भी हर्ज नहीं है। तालू और जिह्वा को इस प्रकार सटाने के उपरांत ध्यान किया जाना चाहिए कि तालू छिद्र से अमृत का सूक्ष्म स्राव टपकता है और जिह्वा इंद्रिय के

गहन अंतराल में रहने वाली रस तन्मात्रा द्वारा उसका पान किया जा रहा है। इसी संवेदना के अमृत पान को सोमरस पान की अनुभूति कहते हैं। प्रत्यक्षत: कोई मीठी वस्तु खाने आदि जैसा कोई स्वाद तो नहीं आता, पर कई प्रकार के दिव्य रसास्वादन उस अवसर पर हो सकते हैं। ये इंद्रिय अनुभूतियाँ मिलती हों, तो हर्ज नहीं, पर वे आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। मुख्य तो वह भावपक्ष है जो इस आस्वादन के बहाने गहन रस-संवेदना से सिक्त रहता है। यही आनंद और उल्लास की अनुभूति खेचरी मुद्रा की मूल उपलब्धि है।

देवी भागवत पुराण में महाशक्ति की वंदना करते हुए उसे कुंडलिनी और खेचरी मुद्रा से संबंधित बताया गया है—

तालुस्था त्वं सदाधारा बिंदुस्था बिंदुमालिनी।
मूलेतु कुण्डलिनीशक्तिर्व्यापिनी केशमूलगा॥

—देवीभागवत १२/५/२२

अमृतधारा सोम सावित्री खेचरी रूप तालू में, भ्रू-मध्य भाग आज्ञाचक्र में बिंदुमाला और मूलाधारचक्र में कुंडलिनी बनकर आप ही निवास करती है और प्रत्येक रोमकूप में विद्यमान है।

शिव संहिता में प्रसुप्त कुंडलिनी का जागरण करने के लिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास आवश्यक बताते हुए कहा गया है—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

—शिव संहिता ४/२३

इसलिए साधक को ब्रह्मरंध्र के मुख में रास्ता रोके सोती पड़ी कुंडलिनी को जाग्रत करने के लिए सब प्रकार से सब प्रयत्न करना चाहिए और खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

कभी-कभी खेचरी मुद्रा के अभ्यास काल में कई प्रकार के रसों के आस्वादन जैसी झलक भी मिलती है। कई बार रोमांच जैसा होने लगता है, पर यह सब आवश्यक या अनिवार्य नहीं। मूलोद्देश्य तो भावानुभूति ही है।

अमृतास्वादनं पश्चाज्जिह्वाग्रे संप्रवर्तते।
रोमांचश्च तथानन्दः प्रकर्षेणोपजायते॥

-योग रसायनम् २५५

जिह्वाग्र में अमृत-सा सुस्वाद अनुभव होता है और रोमांच तथा आनंद उत्पन्न होता है।

प्रथमं लवणं पश्चात् क्षारं क्षीरोपमं ततः।
द्राक्षारससमं पश्चात् सुधासारमयं ततः॥

—योग रसायनम्

खेचरी मुद्रा के समय उस रस का स्वाद पहले लवण जैसा, फिर क्षार जैसा, फिर दूध जैसा, फिर द्राक्षारस जैसा और तदुपरांत अनुपम सुधारस-सा अनुभव होता है।

आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम्।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्॥

—घेरंड संहिता ३/३१,३२

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को क्रमशः नमक, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, दूध, दही, द्राक्षारस, पीयूष जल जैसे रसों की अनुभूति होती है।

अमृतास्वादनाद्देहो योगिनो दिव्यतामियात्।
जरारोगविनिर्मुक्तश्चिरं जीवति भूतले॥

—योग रसायनम्

भावनात्मक अमृतोपम स्वाद मिलने पर योगी के शरीर में दिव्यता आ जाती है और वह योग तथा जीर्णता से मुक्त होकर दीर्घकाल तक जीवित रहता है।

यह योग-सूत्र में खेचरी मुद्रा से अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति का उल्लेख है—

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते तद्दर्शनाद् अणिमादिसिद्धिः ॥

तालू के उर्ध्व भाग में महाज्योति स्थित है, उसके दर्शन से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

घेरंड संहिता में इस खेचरी मुद्रा का प्रतिफल इस प्रकार बताया गया है—

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णानैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रवद्यते ॥

—घेरंड संहिता ३/२८

खेचरी मुद्रा की निष्णात देव देह को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, रोग, जरा-मृत्यु का भय नहीं रहता।

लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्॥

—घेरंड संहिता ३/३०

शरीर सौंदर्यवान बनता है, समाधि का आनंद मिलता है। रसों की अनुभूति होती है। खेचरी मुद्रा सब प्रकार से श्रेयस्कर है।

जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत्॥

—योगकुंडल्युपनिषद् २/३-४

जो महापुरुष ग्रंथ से, अर्थ से और अभ्यास-प्रयोग से जरा-मृत्यु व्याधि निवारक खेचरी विद्या को जानने वाला है, उसी गुरु के पास सर्वभाव से आश्रय ग्रहण कर इस विद्या का अभ्यास करना चाहिए।

खेचरी मुद्रा से अनेक शारीरिक, मानसिक, सांसारिक एवं आध्यात्मिक लाभों के उपलब्ध होने का शास्त्रों में वर्णन है। इससे सामान्य दीखने वीली इस महान साधना का महत्त्व समझा जा सकता है, स्मरणीय इतना ही है कि इस मुद्रा के साथ-साथ भाव-संवेदनाओं की अनुभूति अधिकतम गहरी एवं श्रद्धासिक्त होनी चाहिए।

जिह्वा को उलटकर तालू से लगाना और अनुभव करना कि इसके ऊपर सहस्रार अमृतकलश से रिस-रिसकर टपकने वाले सोमरस का जिह्वाग्र भाग से पान किया जा रहा है, यही खेचरी मुद्रा है। तालु में मधुमक्खियों के छत्ते जैसे कोष्टक होते हैं। सहस्रार को शतदल, सहस्रदल कमल की उपमा दी गई है। तालू सहस्रधारा है, उसके कोष्टक शरीरशास्त्र की दृष्टि से उच्चारण एवं भोजन चबाने-निगलने आदि के कार्यों में सहायता करते हैं। योगशास्त्र की दृष्टि से उनसे दिव्य स्राव निस्सृत होते हैं। ब्रह्मचेतना मानवीय संपर्क में आते समय सर्वप्रथम ब्रह्मलोक में अवतरित होती है, इसके बाद वहाँ मनुष्य की स्थिति, आवश्यकता एवं आकांक्षा के अनुरूप काया के विभिन्न अवयवों में चली जाती है, शेषांश अंतरिक्ष में विलीन हो जाता है।

जिह्वा को तालू से स्पर्श कराने के कई उद्देश्य हैं। मुख गह्वर में रहने वाली रसेंद्रिय, रसशक्ति सम्पन्न ऋण विद्युत सदृश होती है। उसे मुखर कुंडलिनी कहते हैं, सर्पिणी की तुलना भी उस पर सही रीति से लागू होती है। अनगढ़ कुसंस्कारी प्रसुप्त स्थिति में वह स्वाद के नाम पर कुछ भी, कितना ही बिना विवेक के खाती है। पेट को दुर्बल और रक्त को विषाक्त करती है। फलतः दुर्बलता और अस्वस्थता की चक्की में पिसते हुए आधा-अधूरा कष्टपूर्ण जीवन जी सकना संभव होता है। शेष तो अकाल मृत्यु की तरह ही नष्ट होता है। यह सर्पिणी के काटने सदृश ही दुखदायी है। इसी प्रकार जिह्वा द्वारा कटुवचन, हेय परामर्श, छल-प्रपंच आदि द्वारा अपने को गर्हित अधःपतित और दूसरों को कुमार्ग अपनाने के लिए उत्तेजित किया जाता है। यह भी सर्पिणी का ही काम है। द्रौपदी की जीभ ने महाभारत की पृष्ठभूमि बनाई थी, यह सर्वविदित है। यह अनगढ़ प्रसुप्त स्थिति हुई। यदि यह जिह्वा कुंडलिनी जाग्रत हो सके, सुसंस्कृत बन सके तो आहार संयम के लिए जागरूक रहती है। बोलते समय प्रिय और हित का अमृत घोलती है, फलतः संभाषणकर्त्ता को श्रेय

एवं सम्मान की अजस्र उपलब्धियाँ होती हैं। सुसंस्कृत जिह्वा के अनुदानों ने कितनों को न जाने किन-किन वरदानों से लाद दिया है। प्रामाणिक और सुसंस्कृत वाणी के आधार पर ही तो लोग अनेक क्षेत्रों में नेतृत्व करते हैं। ऊर्ध्व मूलाधार में ज्ञान-बीज का निर्झर झरता है। जननेंद्रिय की और मुख की आकृति को समतुल्य बताना कहने-सुनने में तो भौंड़ा लगता है, पर योगशास्त्र की दृष्टि से दोनों की वस्तुस्थिति में बहुत कुछ समानता है। इंद्रियों में कामुकता और स्वादेंद्रिय ये दो ही प्रधान मानी गई हैं। संयम-साधना में जिह्वा संयम होने पर कामेंद्रिय का संयम सहज ही सध जाने की बात नितांत महत्त्वपूर्ण है। इसमें दोनों के बीच की घनिष्ठता प्रत्यक्ष है। काम-क्रीड़ा में भी ये दोनों ही गह्वर अपने-अपने ढंग से उत्तेजित रहते हैं और अपना-अपना पक्ष पूरा करते हैं।

जिह्वा में ऋण विद्युत की प्रधानता है। मस्तिष्क धन विद्युत का केंद्र है, तालू इसकी निचली परत है। जिह्वा को भावनापूर्वक तालू से लगाने पर आत्मरति जैसा उद्देश्य पूरा होता है। जिह्वा और तालू की हलकी भावनापूर्ण रगड़ से एक विशेष प्रकार के आध्यात्मिक स्पंदन आरंभ होते हैं। उनसे उत्पन्न उत्तेजना से ब्रह्मानंद की अनुभूति का लाभ मिलता है। यह सूक्ष्म होने के कारण कायिक विषयानंद से अत्यंत उच्चकोटि का कहा गया है, इस अनुभूति को योगीजन अमृत निर्झर का रसास्वादन कहते हैं।

खेचरी मुद्रा की साधना ब्रह्मलोक से, ब्रह्मरंध्र से सामीप्य साधती है और उस केंद्र के अनुदानों को उसी प्रकार चूसती है, जैसे छोटे बालक का मुख माता का स्तन चूसता है। यह भावना एवं कल्पना सूक्ष्मशरीर में एक विशेष प्रकार की सुखद एवं उत्साहवर्धक गुदगुदी उत्पन्न करती है, उसका रसास्वादन देर तक करते रहने को जी करता है। यह तो हुआ भावनात्मक पथ—जिससे अंतश्चेतना के अमृत से संपर्क बनता है और अंतर्मुखी होकर अंतर्जगत में एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी दिव्य-संवेदनाओं की अनुभूति का द्वार खुलता है, पर

बात इतने तक ही सीमित नहीं है। जिह्वा की 'ऋण' विद्युत ब्रह्मलोक से, ब्रह्मरंध्र से अन्यान्य अनुदानों की संपदा के 'धन' भंडार को अपने चुंबकत्त्व से खींचती-घसीटती है और उसकी मात्रा बढ़ाते-बढ़ाते अपने अंत: भंडार को दिव्य विभूतियों से भरती चली जाती है, इन्हीं उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा उत्पन्न लाभों का सुविस्तृत वर्णन योग ग्रंथों में लिखा और अनुभवियों द्वारा बताया मिलता है।

तालू और जिह्वा के हलके संस्पर्श स्थिर नहीं, वरन हलकी रगड़ जैसे होते रहते हैं। इसमें घड़ी के पेंडुलम जैसी गति बनती है। गाय को दुहते समय भी इसी से मिलती-जुलती क्रियापद्धति कार्यान्वित होती है। रति-कर्म की प्रक्रिया भी इसी प्रकार है। रगड़ से ऊर्जा का, हल-चल का उत्पन्न होना सर्वविदित है। यह ऊर्जा स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरों को प्रभावित करती है, उन्हें बल देती, सक्रिय करती और समर्थ बनाती है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनंदमय कोशों के अनावरण में इससे सहायता मिलती है। षड्चक्रों को जाग्रत करने में भी खेचरी मुद्रा से उत्पन्न ऊर्जा की एक बड़ी भूमिका रहती है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कुंडलिनी जागरण में खेचरी मुद्रा को महत्त्व दिया गया है। क्रिया साधारण-सी होते हुए भी प्रतिक्रिया की दृष्टि से उसका बहुत ऊँचा स्थान माना गया है। अचेतन के साथ संबंधित अतींद्रिय ज्ञान के विकास-विस्तार में उससे असाधारण सहायता मिलती है।

परमात्मा का आत्मा के साथ निरंतर पेंडुलम गति से ही मिलन संपर्क चलता रहता है। इस संस्पर्श की अनुभूति (१) आनंद और (२) उल्लास के रूप में होती रहती है। सामान्य स्थिति में तो इसकी प्रतीति नहीं होती, पर खेचरी मुद्रा के माध्यम से उसे अनुभव किया जा सकता है। भगवान की मनुष्य को दो प्रेरणाएँ—जो उपलब्ध हैं, उसकी गरिमा को समझते हुए, संसार के सुखद पक्ष का मूल्यांकन करते हुए संतुष्ट, प्रसन्न और आनंदित रहना यह है—आनंद का

स्वरूप। उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व की दिशा में साहस भरे कदम उठाने के लिए अदम्य उत्साह का, भावभरी उमंगों का उठना यह है—उल्लास। भगवान इन्हीं दो प्रेरणाओं को निरंतर पेंडुलम गति से प्रदान करते रहते हैं। मानव जीवन जैसी सृष्टि की अनुपम उपलब्धियों को पाकर यदि अंतःकरण आनंदित रहे और छोटे-मोटे अभावों की ओर अधिक ध्यान न देकर चारों ओर बिखरी हुई सदाशयता का अनुभव करते हुए संतुष्ट-संतुलित रहे तो समझना चाहिए कि आनंद की उपलब्धि हो रही है। हर्षातिरेक में उछलने-कूदने या बढ़-चढ़कर शेखीखोरी की बातें करने का नाम आनंद नहीं है। उस स्थिति में दृष्टिकोण परिपक्व हो जाता है और परिष्कृत इसलिए कि जिन अभावों और असफलताओं में दूसरे लोग उद्विग्न-उत्तेजित हो उठते हैं, उन्हें वह विनोद-कौतुक भर समझते हुए अपनी मनःस्थिति को सुसंतुलित बनाए रहता है। जिनकी मनोभूमि ऐसी हो उसे आनंद की प्राप्ति हो गई ऐसा कहा जा सकता है।

आनंदित-संतुष्ट या प्रसन्न होने में एक दोष यह है कि अपूर्णता से पूर्णता की ओर चलने के लिए जिस कठोर-कर्मठता की जरूरत पड़ती है, उसे प्रायः भुला दिया जाता है। ऐसी भूल करने वाले आध्यात्मवादी प्रायः निकम्मे, अकर्मण्य, आलसी, प्रमादी और बुराइयों, बुरी परिस्थितियों से समझौता कर लेने वाले भाग्यवादी-पलायनवादी बन बैठते हैं। इससे उनकी अपनी समग्र प्रगति का द्वार तो बंद हो ही जाता है। साथ ही समाज के लिए प्रखर कर्त्तव्यपालन के लिए जो महान उत्तरदायित्त्व मनुष्य के कंधों पर होते हैं, वे भी अवरुद्ध हो जाने से लोक-मंगल के लिए मानवीय योगदान में भी भारी क्षति पहुँचती है। मनुष्य का अवतरण जिन महान कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्त्वों का प्रचंड प्रयत्नशीलता के साथ निर्वाह करने के लिए हुआ है, यदि उनमें शिथिलता आ गई तो समझना चाहिए कि जीवित ही मृतक बन जाने जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। यदि आनंद या संतोष की प्राप्ति किसी अध्यात्मवादी में इस प्रकार की अकर्मण्यता उत्पन्न

कर दे तो समझना चाहिए कि बिलकुल उलटा हो गया और अर्थ का अनर्थ बन गया ।

खेचरी मुद्रा की साधना से उपलब्ध बोने वाला दूसरा दिव्य अनुदान उल्लास माना गया है। यह उभरता उल्लास इस प्रकार की आवांछनीय मन:स्थिति बनने की गुंजाइश नहीं छोड़ता। भगवान निरंतर आनंद के साथ-साथ उल्लास भी प्रदान करते हैं और उच्चस्तरीय प्रयत्नों के लिए अदम्य स्फूर्ति एवं उमंग उत्पन्न करते है। उल्लास जब उपनी प्रौढ़ावस्था में होता है तो इतना प्रखर होता है कि प्रस्तुत कठिनाइयों, अभावों, अवरोधों की चिंता न करते हुई ईश्वरीय संदेश के अनुरूप अपनी रीति-नीति निर्धारित करने के लिए मचल उठता है, किसी के रोके नहीं रुकता। लोभ और मोह के भव-बंधन यों सहज नहीं टूटते और कुसंस्कार तथा स्वार्थ संबंधी शुभचिंतक ऐसी भावनाओं को क्रियान्वित होने में ही पग-पग विरोध उत्पन्न करते हैं, पर जिसे उल्लास प्राप्त है, वह आत्मकल्याण और ईश्वरीय निर्देशों के पालन की दिशा में ही अग्रसर होता है। कठिनाइयाँ क्यों आती हैं और रोकथाम कौन-कौन करते हैं? इसकी चिंता नहीं करता। फलस्वरूप 'जहाँ चाह वहाँ राह' वाली बात बन ही जाती है। जिसे उल्लास की उपलब्धि मिल गई उसे महापुरुषों जैसे महान कर्त्तव्यपालन करते रहने के अनवरत अवसर निर्बाध गति से मिलते ही रहते हैं।

आनंद और उल्लास भरी मन:स्थिति उत्पन्न करने में खेचरी मुद्रा का जो योगदान मिलता है। उसके फलस्वरूप साधक को हर स्थिति में हँसते-हँसते रहने और हलकी-फुलकी जिंदगी जीने का अभ्यास करना पड़ता है। कर्मठता की जागरूकता से सामान्य जीवनक्रम में पग-पग पर सफलताएँ मिलती और सरलताएँ उत्पन्न होती हैं, इन लाभों को भी सामान्य नहीं समझना चाहिए। ब्रह्मलोक के अन्य दिव्य अनुदान पाकर तो मानवीयसत्ता ऋषिकल्प-देवतुल्य बनने के लिए अग्रसर होती है। खेचरी मुद्रा का वह विशिष्ट लाभ भी आनंद-उल्लास की उपलब्धि की तरह है—साधक के लिए हर दृष्टि से श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

उच्चस्तरीय साधनाओं में तीसरा स्थान शक्तिचालनी मुद्रा का है। कुंडलिनी जागरण में मूलाधार से प्रसुप्त कुंडलिनी को जाग्रत करके ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। उस महाशक्ति की सामान्य प्रवृत्ति अधोगामी रहती है, रतिक्रिया में उसका स्खलन होता रहता है। शरीर यात्रा की मल-मूत्र विसर्जन-प्रक्रिया भी स्वभावतः अधोगामी है। शुक्र का क्षरण भी इसी दिशा में होता है। इस प्रकार यह सारा संस्थान अधोगामी प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है।

कुंडलिनीशक्ति के जागरण और उत्थान के लिए इस क्षेत्र को ऊर्ध्वगामी बनने का अभ्यास कराया जाता है, ताकि अभीष्ट उद्देश्य की सफलता में सहायता मिल सके। गुदा-मार्ग को ऊर्ध्वगामी अभ्यास कराने के लिए हठयोग 'वास्तिक क्रिया' है, उसमें गुदा-द्वार से जल को ऊपर खींचा जाता है फिर संचित मल को बाहर निकाला जाता है, इसी क्रिया को 'वस्ति' कहते हैं। इसी प्रकार मूत्र-मार्ग से जल को ऊपर खींचने और फिर विसर्जित करने की क्रिया वज्रोली कहलाती है। वस्ति और वज्रोली दोनों का ही उद्देश्य इन विसर्जन छिद्रों को अधोमुखी अभ्यासों के साथ ही ऊर्ध्वगामी बनने का प्रशिक्षण दिया जाना है। इन अभ्यासों से कुंडलिनी को ऊर्ध्वगामी बनाने में सहायता मिलती है।

वस्ति और वज्रोली काफी कठिन हैं। हठयोग की साधनाएँ सर्वसुलभ नहीं हैं, उन्हें विशेष मार्गदर्शन से विशेष व्यक्ति ही कर सकते हैं। उन अभ्यासों में समय भी बहुत लगाता है और भूल होने पर संकट उत्पन्न होने का खतरा भी रहता है। अस्तु, सर्वजनीन सरलीकरण का ध्यान रखते हुए शक्तिचालनी मुद्रा को उपयुक्त समझा गया है।

शक्तिचालनी मुद्रा में गुदा और मूत्र-संचालन का संकल्प बल के सहारे संकोचन कराया जाता है। संकोचन का तात्पर्य है, उनकी बहिर्मुखी एवं अधोगामी आदत को अंतर्मुखी एवं ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए प्रशिक्षित करना। इसके लिए दोनों ही इंद्रियों का, उनके सुविस्तृत क्षेत्र का संकोचन कराया जाता है। कभी-कभी मुख से हवा खींची जाती है, पानी पिया जाता है, इसमें मुख को खीचने की क्रिया करनी पड़ती है।

पिचकारी में पानी भरते समय भी ऐसा ही होता है। मल और मूत्र छिद्रों से ऐसा ही वायु खींचने का, छोड़ने का, खींचने-छोड़ने का प्राणायाम जैसा अभ्यास करना संक्षेप में शक्तिचालनी मुद्रा का प्रयोग है।

इस प्रयोग का पूर्वार्द्ध मूलबंध कहलाता है, मूलबंध में मात्र संकोचन भर होता है। जितनी देर मल-मूत्र छिद्रों को सिकोड़ा जाता रहेगा उतनी देर मूलबंध की स्थिति मानी जाएगी—यह एक पक्ष है। आधा अभ्यास है, इसमें पूर्णता समग्रता तब आती है, जब प्राणायाम की तरह खींचने-छोड़ने के दोनों ही प्रयोजन पूरे होने लगें। जब संकोचन-विसर्जन, संकोचन-विसर्जन का, खींचने-ढीला करने, खीचने-ढीला करने का उभयपक्षीय अभ्यास चल पड़े तो समझना चाहिए कि शक्तिचालनी मुद्रा का अभ्यास हो रहा है।

कमर के नीचे के भाग में अपानवायु रहता है, उसे खींचकर कमर से ऊपर रहने वाले प्राणवायु के साथ जोड़ा जाता है—यह पूर्वार्द्ध हुआ। उत्तरार्द्ध में ऊपर के प्राण को नीचे के अपान के साथ जोड़ा जाता है। इस प्राण अपान के संयोग की योगशास्त्रों में बहुत महिमा गाई गई है—यही मूलबंध है। इस साधना की महिमा बताते हुए कहा गया है—

आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधोऽयमुच्यते।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति॥

—योग कुंडल्युपनिषद् १/६४

मूलबंध के अभ्यास से अधोगामी अपान को बलात् ऊर्ध्वगामी बनाया जाए, इससे वह प्रदीप्त होकर अग्नि के साथ-साथ ही ऊपर चढ़ता है।

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरूतसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः॥

—घेरंड संहिता ३/१७

मूलबंध के अभ्यास से मरुत सिद्धि होती है, अर्थात शरीरस्थ वायु पर नियंत्रण होता है। अतः आलस्य-विहीन होकर मौन रहते हुए इसका अभ्यास करना चाहिए।

प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः॥

—हठयोग प्रदीपिका ३-६४

प्राण और अपान का समागम नाद बिंदु की साधना तथा मूलबंध का समन्वय, यह कर लेने पर निश्चित रूप से योग की सिद्धि होती है।

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥

—हठयोग प्रदीपिका ३/६५

निरंतर मूलबंध का अभ्यास करने से प्राण और अपान के समन्वय से अनावश्यक मल नष्ट होते हैं और वृद्धता भी यौवन में बदलती है।

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम्।
यस्मिन् सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते॥
यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम्॥

—तेजोबिंदूपनिषद् १/२६-२७

जो सर्वलोकों का मूल है, जो चित्त निरोध का मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्मवादियों को सदा सेवन करना चाहिए—यही मूलबंध है। अन्य जुदा संकोचन रूप मूलबंध जिज्ञासुओं के लिए सेव्य नहीं है।

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥

—हठयोग प्रदीपिका ३/६९

फिर जिस प्रकार सर्पिणी बिल में प्रविष्ट होती है, उसी प्रकार उद्दीप्त कुंडलिनी ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है, इसलिए योगियों को सदा ही मूलबंध का अभ्यास करना चाहिए।

मूलबंध एवं शक्तिचालनी मुद्रा को विशिष्ट प्राणायाम कहा जा सकता है। सामान्य प्राणायाम में नासिका से सांस खींचकर प्राण-प्रवाह को नीचे मूलाधार तक ले जाते हैं और फिर ऊपर की ओर उसे

वापस लाकर नासिका द्वार से निकालते हैं—यही प्राण संचरण की क्रिया जब अधोभाग के माध्यम से की जाती है तो मूलबंध कहलाती है। नासिका का तो स्वभाव साँस लेते और छोड़ते रहना है। अतः उसके साथ प्राण-संचार का क्रम सुवधिापूर्वक चल पड़ता है। गुदा अथवा उपस्थ इंद्रियों द्वारा वायु खींचने जैसी कोई क्रिया नहीं होती। अतः उस क्षेत्र के स्नायु संस्थान पर खिंचाव पैदा करके सीधे ही प्राण-संचार का अभ्यास करना पड़ता है। प्रारंभ में थोड़ा अस्वाभाविक लगता है, किंतु क्रमशः अभ्यास में आ जाता है।

मूलबंध में सुखासन (सामान्य पालथी मारकर बैठना) पद्मासन (पैरों पर पैर चढ़ाकर बैठना) सिद्धासन (मल-मूत्र-छिद्रों के मध्यभाग पर ऐड़ी का दबाव डालना) इनमें से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है।

मलद्वार को धीरे-धीरे सिकोड़ा जाए और ऐसा प्रयत्न किया जाए कि उस मार्ग से वायु खींचने के लिए संकोचन क्रिया की जा रही है। मल का वेग अत्यधिक हो और तत्काल शौच का अवसर न हो, तो उसे रोकने के लिए मलमार्ग को सिकोड़ने और ऊपर खींचने जैसी चेष्टा करनी पड़ती है। ऐसा ही मूलबन्ध में भी किया जाता है। मलद्वार को ही नहीं, उस सारे क्षेत्र को सिकोड़ने को ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि मानो वायु अथवा जल को उस छिद्र से खीच रहे हैं। वज्रोली क्रिया में मूत्र-मार्ग से पिचकारी की तरह जल खींचने और फिर निकाल देने का अभ्यास किया जाता है। मूलबंध में जल आदि खींचने की बात तो नहीं है, पर संकल्पबल से गुदाद्वार ही नहीं मूत्र छिद्र से भी वायु खींचने जैसा प्रयत्न किया जाता है, और उस सारे क्षेत्र को ऊपर खींचने का प्रयास चलता है। गुदा-मार्ग से वायु खींचकर नाभि से ऊपर तक घसीट ले जाने की चेष्टा आरंभिक है। कुछ समय तक रुकना संभव होता हैग तो अपान को नाभि से ऊपर हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है—यह खींचने का ऊपर ले जाने का पूर्वार्द्ध हुआ।

उत्तरार्द्ध में प्राणवायु को नाभि से नीचे की ओर लाया जाता है और अपान अपनी जगह आ जाता है। इसका व्यावहारिक स्वरूप यह है कि खींचने-सिकोड़ने की क्रिया को ढीला छोड़ने, नीचे उतारने, खाली करने का वैसा ही प्रयत्न किया जाता है जैसा कि प्राणायाम में रेचक के लिए साँस छोड़ी जाती है।

मोटे तौर से उसे गुदा-मार्ग को, मूत्र-मार्ग को ऊपर की ओर सिकोड़ने की, पूरा संकोचन हो जाने पर कुछ देर रोके रहने की, अंततः उसे ढीला छोड़ देने की गुदा-मार्ग से होने वाली प्राणायाम क्रिया ही कहा जा सकता है।

स्मरण रहे कि यह क्रिया वायु-संचार की नहीं प्राण-संचार की है। नासिका द्वारा तो प्राण-संचारक्रम चलता ही रहता है। अतः उसके साथ प्राण-प्रक्रिया जोड़ने में कठिनाई नहीं होती। मूलाधार क्षेत्र में श्वास लेने जैसा अभ्यास किसी इंद्रिय को नहीं है, किंतु प्राण-संचार की क्षमता उस क्षेत्र में ऊर्ध्वभाग से किसी भी प्रकार कम नहीं। मूलबंध द्वारा प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाना प्रथम चरण है, दूसरे चरण में शक्तिचालनी मुद्रा के अभ्यास से प्राण-अपान आदि शरीरस्थ प्राणों को इच्छानुसार समुचित अनुपात में एकदूसरे से जोड़ा, मिलाया जाना संभव होता है। ऐसा करने से शरीरस्थ पंचप्राण महाप्राण से संबद्ध हो जाते हैं।

गीता में योगसाधक द्वारा प्राण को अपान में तथा अपान को प्राण में होमने का उल्लेख इसी दृष्टि से किया गया। यथा-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

—गीता ४/२९

अर्थात कोई साधक अपान में प्राण की आहुति देते हैं, कुछ प्राण में अपान को होमते हैं। प्राण और अपान की गति नियंत्रित करके साधक प्राणायाम परायण होता है।

नासिका द्वारा प्राण-संचार करके उसे मूलाधार तक ले जाना प्राण को अपान में होमना है और मूलबंध एवं शक्तिचालनी मुद्रा आदि द्वारा अपान का उत्थान करके उसे प्राण से मिलाना, अपान को प्राण में होमना कहा जाता है। प्राण और अपान दोनों की ही सामान्य गति को नियंत्रित करके उसे उच्च लक्ष्यों की ओर प्रेरित करना ही प्राणायाम का उद्‌देश्य है।

शक्तिचालनी मुद्रा का महत्त्व एवं लाभ योग इस प्रकार बताया गया है—

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत्।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम्॥

—शिव संहिता ४/१०६

शक्तिचालनी मुद्रा का जो प्रतिदिन अभ्यास करता है, उसकी आयु में वृद्धि होता है और रोगों का नाश होता है।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥

—हठयोग प्रदीपिका ३/१०८

कुंडलिनी सर्पिणी की तरह कुटिल है, उसे शक्तिचालनी मुद्रा द्वारा जो चलायमान कर लेता है, वही योगी है।

शक्तिचालनी की महत्ता में जो कहा गया है, वह अतिशयोक्ति नहीं, यह विज्ञानसम्मत है। शक्ति कहीं से आती नहीं, सुप्त से जाग्रत,जड़ से चलायमान हो जाना ही शक्ति का विकास कहा जाता है। बिजली के जैनरेटर में बिजली कहीं से आती नहीं है। चुंबकीय क्षेत्र में क्वायल घुमाने से उसके अंदर के इलेक्ट्रॉन विशेष दिशा में चल पड़ते हैं। यह चलने की प्रवृति विद्युत संवाहक शक्ति (ई० एम० एफ०) के रूप में देखी जाती है। शरीरस्थ विद्युत को भी इसी प्रकार दिशा विशेष में प्रवाहित किया जा सके तो शरीरसंस्थान एक सशक्त जेनरेटर की तरह सक्षम एवं समर्थ बन सकता है। योग-साधनाएँ इसी उद्‌देश्य की पूर्ति करती हैं।

त्राटक-साधना से दिव्यदृष्टि की जागृति

मानवीय विद्युत का अत्यधिक प्रवाह नेत्रों द्वारा ही होता है। अस्तु, जिस प्रकार कल्पनात्मक विचारशक्ति को सीमाबद्ध करने के लिए ध्यानयोग की साधना की जाती है, उसी प्रकार मानवीय विद्युत-प्रवाह को दिशा विशेष में प्रयुक्त करने के लिए नेत्रों की तीक्ष्ण शक्ति को साधा जाता है। इस प्रक्रिया को त्राटक नाम दिया गया है।

सरसरे तौर से और चंचलता पूर्वक उथली दृष्टि से हम प्रतिक्षण असंख्य वस्तुएँ देखते रहते हैं। इतने पर भी उनमें से किन्हीं विशेष आकर्षक वस्तुओं की ही मन पर छाप पड़ती है, अन्यथा सब कुछ यों ही आँख के आगे से गुजर जाता है। देखने की क्रिया होते रहने पर भी दृश्य पदार्थों एवं घटनाओं का नगण्य-सा प्रभाव मस्तिष्क पर पड़े, इसका कारण देखते समय मन की चंचलता, उथलापन, उपेक्षा, अन्यमनस्कता आदि ही मुख्य होते हैं। यदि गंभीरता और स्थिरतापूर्वक किसी पदार्थ या घटना का निरीक्षण किया जाए तो उसी में से बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरते दिखाई देंगे।

त्राटक-साधना का उद्देश्य अपनी दृष्टि क्षमता में इतनी तीक्ष्णता उत्पन्न करना है कि वह दृश्य की गहराई में उत्तर सके और उसके अंतराल में अतिमहत्त्वपूर्ण जो घटित हो रहा है, उसे पकड़ने और ग्रहण करने में समर्थ हो सके। वैज्ञानिकों, कलाकारों, तत्त्वदर्शियों में यही विशेषता होती है कि सामान्य समझी जाने वाली घटनाओं को अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हैं और उसी में

से ऐसे तथ्य ढूँढ़ निकालते हैं जो अद्भुत एवं असाधारण सिद्ध होते हैं।

पेड़ पर से फल टूटकर नीच गिरते ही रहते हैं। यह दृश्य बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक सभी देखते हैं। इनमें कोई नई बात नहीं, किंतु आइजक न्यूटन ने पेड़ से सेव का फल जमीन पर गिरते देखा तो उसकी सूक्ष्मदृष्टि इसका कारण तलाश करने में लग गई और अंततः उसने पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होने का क्रांतिकारी सिद्धांत प्रतिपादित करके विज्ञान जगत में एक अनूठी हल-चल उत्पन्न कर दी। इस आधार पर आगे चलकर विज्ञान की भावी प्रगति का पथ प्रशस्त होता चला गया है। कलाकारों और तत्त्वदर्शियों की दृष्टि भी ऐसी ही होती है। महर्षि चरक ने जमीन पर उगती रहने वाली सामान्य जड़ी-बुटियों के ऐसे गुण-धर्म खोज निकाले, जिनके सहारे आरोग्य विज्ञान की प्रगति में भारी सहायता मिली। मनीषियों ने एक-से-एक बढ़कर विज्ञान के क्षेत्र में रहस्योद्घाटन किए हैं। इस सूक्ष्म अवलोकन में दिव्यदृष्टि तो काम करती ही है, पर उसके उत्पादन अभिवर्द्धन में चर्मचक्षुओं में उत्पन्न होने वाली वेधक दृष्टि की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती । त्राटक इसी विभूति के उत्पादन को ध्यान में रखते हुए किया जाता है।

बुद्धि का महत्त्व सर्वविदित है, पर मानवीय विद्युत जिसे प्रतिभा का स्रोत माना जाता है, व्यक्तित्व के निर्माण एवं प्रयत्नों की सफलता में किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मनुष्य शरीर एक अच्छा-खासा बिजलीघर है, उससे लोहे की मशीनें चलाई जाती हैं, पर शरीर यंत्र में जो एक से एक अद्भुत कल-पुरजे लगे हैं, उनके सुसंचालन में यही शक्ति कितना काम करती है, इसे देखते हुए भौतिक विद्युत की क्षमता को तुच्छ ही कहा जा सकता है। मानवीय विद्युत का वस्तुओं और प्राणियों पर कितना भारी प्रभाव पड़ता है, उससे वातावरण का निर्माण किस तरह उबरता है और व्यक्तित्व के विकास में कितनी सहायता मिलती है? इस सबको यदि क्रमबद्ध किया जा सके तो

प्रतीत होगा कि मनुष्य शरीर में काम करने वाली बिजली कितनी सूक्ष्म और कितनी महत्त्वपूर्ण है ?

यों तो मनुष्य शरीर के रोम-रोम में विद्युत-प्रवाह ही काम करता है, पर नेत्र, जननेंद्रिय और वाणी यह तीन द्वार मुख्य हैं, जिनमें होकर वह प्रवाह बाहर निकलता है और परिस्थितियों को प्रभावित करता है। मस्तिष्क का ब्रह्मरंध भाग उत्तरी ध्रुव की तरह निखिल ब्रह्मांड में संव्याप्त महाप्राण को खींचकर अपने में धारण करता है, इसके उपरांत उसके प्रयोग के अधार नेत्र, जिह्वा एवं जननेंद्रिय छिद्रों में होकर बनते हैं।

जिह्वा की वाक्-साधना के लिए जप, पाठ, मौन जैसे कितने ही अभ्यास हैं। जननेंद्रिय से संबंधित कामशक्ति को ब्रह्मचर्य से संयमित किया जाता है और उसे कुंडलिनी जागरण के रूप में उभारा जाता है। उनका उल्लेख यहाँ अभीष्ट नहीं। त्राटक द्वारा नेत्र-गोलकों से प्रवाहित होने वाली विद्युतशक्ति को किस प्रकार केंद्रीभूत एवं तीक्ष्ण बनाया जाता है ? यहाँ तो इस प्रसंग पर चर्चा की जानी है। मनुष्य का अंतरंग नेत्र गोलकों में होकर बाहर झाँकता है, उन्हें अंतरात्मा की खिड़की कहा गया है। प्रेम, द्वेष एवं उपेक्षा जैसी अंत:स्थिति को आँख मिलाते ही देखा और समझा जाता है। काम-कौतुक का सूत्र-संचार नेत्रों द्वारा ही होता है। नेत्रों के सौंदर्य एवं प्रभाव की चर्चा करते-करते कवि-कलाकार थकते नहीं, एक-से-एक बड़े उपमा-अलंकार उनके लिए प्रस्तुत करते ही रहते हैं। दया, क्षमा, करुणा, ममता, पवित्रता, सज्जनता, सहृदयता जैसी आत्मिक सद्भावनाओं को अथवा इनके ठीक विपरीत दुष्ट दुर्भावनाओं को किसी के नेत्रों में नेत्र डालकर जितनी सरलतापूर्वक समझा जा सकता है, उतना और किसी प्रकार नहीं।

कहा जा चुका है कि दिव्यचक्षुओं से संभव हो सकने वाली सूक्ष्मदृष्टि और चर्मचक्षुओं की एकाग्रतायुक्त तीक्ष्णता की साधना को त्राटक कहते हैं। इसका योगाभ्यास में अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है।

छोटे बच्चों को नजर लग जाने, बीमार पड़ने, नए सुंदर मकान को नजर लगने से दरार पड़ जाने जैसी किंवदंतियाँ अक्सर सुनी जाती हैं। इनमें प्रायः अंधविश्वासों का ही पुट रहता है, फिर भी मानवीय विद्युत विज्ञान की दृष्टि से ऐसा हो सकना असंभव नहीं है। वेधक दृष्टि में हानिकारक और लाभदायक दोनों तत्त्व रहते हैं।

यह तो सामान्य स्तर के त्राटक उपचार का क्रिया-कौतुक हुआ। अध्यात्म-क्षेत्र में आगे बढ़ने वाले इसी प्रयोग की उच्च भूमिका में प्रवेश करके दिव्यदृष्टि विकसित करते हैं और उस अदृश्य को देख पाते हैं, जिसे देख सकना चर्म चक्षुओं के लिए संभव नहीं हो सकता।

दृष्टि के स्थूल भाग की भी विशेषता है, पर वस्तुतः उसकी वास्तविक शक्ति सूक्ष्मदृष्टि पर निर्भर रहती है। प्रेम, द्वेष, घृणा, उपेक्षा आदि के भाव आँखों की बनावट या पुतली संचालन-क्रम में अंतर नहीं करते। वह स्थिति तो सदा एक-सी ही रहती है, अंतर पड़ता है उस भाव-संदोह का जो आँखों में सूक्ष्मप्रक्रिया बनकर झाँकता है और सामने वाले को अपने अंतरंग के सारे भेद बताकर स्थिति से अवगत करा देता है। स्थूल दृष्टि के पीछे सूक्ष्मदृष्टि ही अपना काम कर रही होती है। अस्तु, भारतीय योगदर्शन ने त्राटक के माध्यम से सूक्ष्मदृष्टि को एकाग्र एवं प्रभावशाली बनाने का उद्देश्य सामने रखा है, जबकि पाश्चात्य शैली में चर्मचक्षु ही सब कुछ हैं और उन्हीं की दृष्टि से वेधक क्षमता उत्पन्न करके अभीष्ट प्रयोजन संपन्न किए जाते हैं।

त्राटक का वास्तविक उद्देश्य दिव्यदृष्टि को ज्योतिर्मय बनाना है। उसके आधार पर सूक्ष्मजगत की झाँकी की जा सकती है। अंतःक्षेत्र में दबी हुई रत्नराशि को खोजा और पाया जा सकता है। देश, काल, पात्र की स्थूल सीमाओं को लाँघकर अविज्ञात और अदृश्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आँखों के इशारे से तो मोटी जानकारी भर की जा सकती है, पर दिव्यदृष्टि से तो किसी अंतःक्षेत्र

की गहराई में प्रवेश करके वहाँ ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है, जिससे जीवन का स्तर एवं स्वरूप ही बदल जाए। इस प्रकार त्राटक की साधना यदि सही रीति से सही उद्देश्य के लिए की जा सके तो उससे साधक की अंतश्चेतना के विकसित होने का असाधारण लाभ मिलता है, साथ ही जिस प्राणी या पदार्थ पर इस दिव्यदृष्टि का प्रभाव डाला जाए तो उसे भी विकासोन्मुख करके लाभान्वित किया जा सकता है।

नादब्रह्म की साधना : नादयोग

ब्रह्मांडीय चेतना एवं सशक्तता का उद्गम-स्रोत कहाँ है ? इसकी तलाश करते हुए तत्त्वदर्शी-ऋषि अपने गहन अनुसंधानों के सहारे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह समस्त हल-चलें जिस आधार पर चलती हैं, वह शक्तिस्रोत शब्द है। अचिंत्य, अगम्य, अगोचर, परंब्रह्म को जगत चेतना के साथ अपना स्वरूप निर्धारित करते हुए शब्दब्रह्म के रूप में प्रकट होना पड़ा। सृष्टि से पूर्व यहाँ कुछ नहीं था। कुछ से सब कुछ को उत्पन्न होने का प्रथम चरण शब्द ब्रह्म था, उसी को नादब्रह्म कहते हैं। उसकी परमसत्ता का आरंभ-अवतरण इसी प्रकार होता है, उसके अस्तित्व एवं प्रभाव का परिचय प्राप्त करना सर्वप्रथम शब्द के रूप में ही संभव हो सका।

यह विश्व अनंत प्रकाश के गर्भ में पलने वाला और उसी की गोदी में खेलने वाला बालक है। ग्रह-नक्षत्रों का, नीहारिकाओं का, प्राणी और पदार्थों का निर्वाह इस आकाश की छत्र छाया में ही हो रहा है। सृष्टि से पूर्व आकाश ही था, आकाश में ऊर्जा रूप में हलचलें उत्पन्न हुईं। हलचलें सघन होकर पदार्थ बन गईं। पदार्थ से पंचतत्त्व और पंचप्राण बने। इन्हीं के सम्मिश्रण से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनीं और प्राणी बने। सृष्टि के इस आरंभ क्रम से आत्मविज्ञानी और भौतिकविज्ञानी प्रायः सभी समान रूप से सहमत हो चले।

आरंभिक हल-चल शब्द रूप में हुई होगी, इस कल्पना को अब मान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। आकाश की तन्मात्रा शब्द ही है। शब्द और आकाश का पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है। स्थूल आकाश 'ईथर' के रूप में जाना जाता है। ध्वनि-प्रवाह भी उसे कहते हैं। प्रकाश की, भौतिक जगत की एक बड़ी शक्ति है। विद्युत, चुंबक आदि का नंबर इसके बाद आता है। शक्ति का प्रथम स्रोत ध्वनि है, ध्वनि से प्रकाश के संयोग-वियोगों से तत्त्वों, प्रवाहों एवं चेतनाओं का उद्भव। सृष्टि का आधार—कारण इसी प्रकार समझा जा सकता है।

शब्द का आरंभ जिस रूप में हुआ उसी स्थिति में वह अनंतकाल तक बना रहेगा। आरंभ शब्द ओ३म माना गया है। यह कांस्यपात्र पर हथौड़ी पड़ने से उत्पन्न झनझनाहट-थरथराहट की तरह का प्रवाह है। घड़ियाल पर लकड़ी की हथौड़ी मारकर आरती के समय जो ध्वनि उत्पन्न की जाती है, उसे ओमकार के समतुल्य माना जा सकता है। ओ शब्द का आरंभ और उसके प्रवाह में अर्द्ध अनुस्वारों की शृंखला जोड़ दी जाए तो यही ओम बन जाएगा। उसके उच्चारण का स्वरूप समझाते हुए 'ओ' शब्द के आगे ३ का अंक लिखा जाता है,तदुपरांत आधा 'म' लिखते हैं। ३ का अंक लिखने का अर्थ है उसे अपेक्षाकृत अधिक जोर से बोला जाए। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत के संकेतों से ३ गुनी शक्ति से बोले जाने वाले अक्षर को प्लुत कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि 'ओ' शब्द को सामान्य की अपेक्षा तीन गुनी क्षमता से बोला जाए, तदुपरांत उसके साथ अर्द्ध 'म' की अर्द्धबिंदु अर्द्ध अनुस्वारों की एक कड़ी जोड़ दी जाए, यही 'ओ३म' का उच्चारण है। 'ओ, ३, म्' इन तीनों का संक्षिप्त मोनोग्राम ॐ के रूप में लिखा जाता है। यही वह स्वरूप है जिसका सृष्टि आरंभ के लिए उद्भव हुआ और उसी की पुनरावृत्ति परा प्रकृति के अंतराल में यथावत् होती आ रही है। जागतिक समस्त विधि-व्यवस्थाएँ उसी उद्गम से आरंभ होती हैं और गतिशील रहती हैं।

घड़ी में पेंडुलम हिलता है, उससे अनायास ही एक स्वसंचालित प्रवाह बनता है, जिसके आधार पर न केवल पेंडुलम की अपनी क्रिया-प्रक्रिया चलती है, वरन घड़ी के अन्य पुरजों को गतिशील बनाने के लिए अभीष्ट क्षमता की आवश्यकता की पूर्ति होती है। परा और अपरा, चेतन और जड़ प्रकृति को यदि एक घड़ी यंत्र माना जाए तो उसके संचालन की उद्‌गम व्यवस्था बनाने वाली शक्ति को ओ३म्‌कार का ध्वनि-प्रवाह कह सकते हैं, यह अनवरत रूप से होता रहता है। एक के बाद दूसरे आघात का क्रम चलता रहता है। इन आघातों को प्रकृति पुरुष के संयोग समागम की उत्पत्ति कहा गया है। शृंगारिक अंलकारों में इसे काम-क्रीड़ा की विविध प्रवृत्तियों के रूप में भी सरस वर्णनों के साथ समझने-समझाने का प्रयत्न चलता रहता है, इसे दार्शनिकता और कवित्व का सम्मिश्रण कह सकते हैं।

शक्ति की धाराएँ अनेक हैं, पर यदि उनके उद्‌गम केंद्र तक पहुँचा जा सके तो उन सभी धाराओं पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है, जो उस केंद्र संस्थान से उद्‌भूत होती हैं। राजधानी पर, राजा के किले पर कब्जा हो जाने से उस प्रवाह में चलने वाले सारे क्षेत्र पर अधिकार हो जाता है। सहस्रारचक्र की साधना में सफलता मिलने पर समूची जीवनसत्ता वशवर्ती हो जाती है। सृष्टि का उद्‌गम केंद्र ब्रह्म ओउम्‌कार यदि सिद्ध किया जा सके तो समूचे सृष्टि-प्रवाह के साथ तारतम्य मिलना संभव हो जाता है, तब इस विश्व-वैभव का अभीष्ट सत्प्रयोजनों के लिए उपयोग कर सकने में कठिनाई नहीं रहती। विशेषतः आत्मविश्वास पर तो पूरी तरह अधिकार हो ही जाता है। विश्व-नियंता परमात्मा के लिए विश्व व्यवस्था की बात जितनी महत्त्वपूर्ण है, आत्म-नियंता आत्मा के लिए उतना ही गरिमामय आत्मसत्ता के क्षेत्र में, सुव्यवस्था बना सकना है।

शब्दब्रह्म प्रकृति और पुरुष का मध्यवर्ती संबंध-सूत्र है। इस पर अधिकार होने से दोनों ही क्षेत्रों में घनिष्ठता सध जाती है। प्रकृति-क्षेत्र की शक्तियाँ और ब्रह्मक्षेत्र की चेतनाएँ करतलगत हो

सकें तो ऋद्धियों और सिद्धियों का, संपदाओं और विभूतियों का उभयपक्षीय वैभव उपलब्ध हो सकता है।

ओम्कार साधना नादयोग की उच्चस्तरीय साधना है। आरंभिक अभ्यासी को प्रकृति-प्रवाह से उत्पन्न विविध स्तर की आहत-परिचित ध्वनियाँ सूक्ष्म कर्णेंद्रिय से सुनाई पड़ती हैं। इनके सहारे मन को वशवर्ती बनाने तथा प्रकृति-क्षेत्र में चल रही हल-चलों को जानने तथा उन्हें मोड़ने-मरोड़ने की सामर्थ्य मिलती है, आगे चलकर 'अनाहत' क्षेत्र आ जाता है। स्वयंभूध्वनि-प्रवाह जिसे परब्रह्म का अनुभव में आ सकने वाला स्वरूप कह सकते हैं। यदि कोई उसके सघन संपर्क में आ सके, तो वह अध्यात्म-क्षेत्र का सिद्ध पुरुष भी कहला सकता है।

भगवान का सर्वश्रेष्ठ नाम ओ३म् है। यह स्वयंभू है। पेट भरा होने पर जब डकार लेते हैं, तब पूर्णता का प्रतीक 'ओ३म्' शब्द अनायास ही निकलता है। जिसकी ध्वनि नाभि देश से आरंभ होकर कंठमूल और मुखाग्र तक चली जाती है। यह ओ३म साढ़े तीन अक्षरों का विनिर्मित है—(१) ओ (२) उ (३) म्—ओं के उच्चारण में जो अर्द्धबिंदु लगा है, इसे चंद्रबिंदु अथवा अर्धमात्रा कहते हैं। उसे आधा अक्षर माना गया है, इस प्रकार साढ़े तीन अक्षर का मंत्रराज यों कहलाता है। इसका उच्चारण कंठ, ओंठ, मुख, जिह्वा से होता है, पर इसका बीज कुंडलिनी में सन्निहित है। जब ध्वनि और प्राण दोनों मिल जाते हैं, तब उसका समग्र प्रभाव उत्पन्न होता है।

मांडूक्योपनिषद् में परमात्मा के समग्र रूप का तत्त्व समझाने के लिए उनके चार पादों की कल्पना की गई है। नाम और नामी की एकता प्रतिपादन करने के लिए भी और नादशक्ति के परिचय रूप में अ, उ, और म इन तीन मात्राओं के साथ और मात्रा रहित उसके अव्यक्त रूप के साथ परब्रह्म परमात्मा के एक-एक पाद की समता दिखलाई गई है और ओंकार को ही परमात्मा का अभिन्न स्वरूप मानकर यह बताया गया है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।
—मांडूक्योपनिषद्-१

'ओउम्' यह अक्षर ही पूर्ण अविनाशी परमात्मा है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देना वाला जड़-चेतन का समुदाय रूप जगत उन्हीं का उपव्याख्यान अर्थात उन्हीं की निकटतम महिमा का निर्देशक है। जो स्थूल एवं सूक्ष्म जगत पहले उत्पन्न होकर उसमें विलीन हो चुका है। जो वर्तमान है, जो भविष्य में उत्पन्न होगा, वह सबका सब ओंकार (ब्रह्म का नाद स्वरूप) ही है, तीनों कालों से अतीत इससे भिन्न है, वह भी ओंकार ही है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण जो कुछ भी दृश्य-अदृश्य हैं उसका संचालन ओंकार की स्फुरणा से ही हो रहा है। यह जो उनका अभिव्यक्त अंश और उससे अतीत भी जो कुछ है, वह सब मिलकर ही परब्रह्म परमात्मा का समग्र रूप है, पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए। उसकी नादशक्ति का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

परमात्मा के नाद रूप के साक्षात्कार के लिए किए गए ध्यान के संबंध में नाद बिंदूपनिषद् के ३३ से ४१वें मंत्रों में बड़ी सूक्ष्म अनुभूतियों का विवरण मिलता है। इन मंत्रों में बताया गया है कि जब पहले-पहले अभ्यास किया जाता है तो नाद कई तरह का और बड़े जोर-जोर से सुनाई देता है। आरंभ में 'नाद' की ध्वनि नागरी, झरना, भेरी, मेघ, और समुद्र की हरहराहट की तरह होती है बाद में भ्रमर, वीणा, वंशी और किंकिणी की तरह गुंजनपूर्ण और मधुर होती है। ध्यान को धीर-धीरे बढ़ाया जाता है और उससे मानसिक ताप का शमन होना भी बताया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् के तृतीय अनुवाक् में ऋषि ने लिखा है—'वाणी' में शारीरिक और आत्मविषयक दोनों तरह की उन्नति करने की सामर्थ्य भरी हुई है, जो इस रहस्य को जानता है, वह वाक्शक्ति पाकर उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करने में समर्थ होता है।

ओ३मकार ध्वनि से प्रस्फुटित होना वाला ब्रह्म इतना सशक्त और सर्व शक्तिमान है कि वह सृष्टि के किसी भी कण को स्थिर नहीं होने देता। समुद्रों को मथ डालने से लेकर भयंकर आँधी-तूफान और ज्वालामुखी पैदा करने तक, परस्पर विचार-विनियम की व्यवस्था से लेकर ग्रह-नक्षत्रों के सूक्ष्म कंपनों को पकड़ने तक का एक सुवस्तृत विज्ञान किसी समय भारतवर्ष में प्रचलित था। नादब्रह्म की उपासना के फलस्वरूप यहाँ के साधक इंद्रियातीत क्षमताओं के अधिपति और स्वर्ग संपदा के अधिकारी देवमानव कहलाते रहे हैं।

अनाहत नाद की उपासना विश्वव्यापी है। पाश्चात्य विद्वानों तथा साधकों ने उसके वर्णन के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया है- वर्ड लोगोस, हिवस्पर्स फ्राम दि अननोन, इनर व्हायस, दि लेंग्वेज ऑफ सोल, प्रिमार्डियल साउण्ड, दि व्हायस फ्राम हैवन, दि व्हायस ऑफ सोल आदि।

गणितज्ञ, दार्शनिक पाइथागोरस ने इसे सृष्टि का संगीत (म्यूजिक ऑफ दि स्फियर्स) कहा गया है। व्यष्टि (माइक्रोकॉज्म) को समष्टि (मेक्रोकाज्म) से जोड़ने से नाद-साधना अतीत उपयोगी सिद्ध होती है।

स्वामी विवेकानंद ने ओ३म शब्द को समस्त नाम तथा रूपांतरों की एक जननी (मदर ऑफ नेम्स एंड फार्मस) कहा है। भारतीय मनीषियों ने इसे प्रणव ध्वनि, उद्गीथ, स्टोफ आदि नाम-अनाहत, ब्रह्मनाद आदि अनेक नामों से पुकारा है।

बाइबिल में कहा गया है—"आरंभ में शब्द था। शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था।' इन दि विगिनिंग वाज दि वर्ड, दि वर्ड वाज विद गॉड, दि वर्ड वाज गॉड।"

शिव पुराण के उमा संहिता खंड के २६वें अध्याय में अनाहत नाद संबंधी विशेष विवरण और माहात्म्य मिलता है। भगवान शिव-पार्वती से कहते हैं—"अनाहत नाद कालजयी है। इसकी साधना करने वाला इच्छानुसार मृत्यु को जीत लेता है। सर्वज्ञाता और संपूर्ण

सिद्धियों का अधिपति बनता है, उसकी सूक्ष्मता बढ़ जाती है और भवसागर के बंधन कट जाते हैं। जागरूक योगी शब्दब्रह्म की साधना करे, यह परम कल्याणकारी योग है।

नादयोग के दस मंडल-साधना ग्रंथों में गिनाए गए हैं। कहीं-कहीं इन्हें लोक भी कहा गया है। एक ओ३म्कार ध्वनि और शेष नौ शब्द इन्हें मिलाकर दस शब्द बनते हैं। इन्हीं की श्रवण-साधना शब्दब्रह्म की नाद-साधना कहलाती है।

संत मत के मध्यकालीन आचार्यों ने नादब्रह्म की साधना को 'सुरति' कहा है। कबीर, रैदास, नानक, पलटू और राधास्वामी एवं नाथ संप्रदाय में इसका विशेष रूप से प्रचलन है। सुरति का एक अर्थ प्रकृति-पुरुष के बीच अनवरत क्रम से चलने वाली दिव्य मिलन-बिछुड़न क्रिया की ओर संकेत करता है। दूसरा अर्थ स्रोत शब्द के अपभ्रंश रूप में भी 'सुरति' को ले सकते हैं। शास्त्रों में अध्यात्म-स्रोत अनवरत शब्दप्रवाह को माना गया है। सूक्ष्म नाद प्रकृति के अंतराल में सर्वव्यापी बनकर गूँज रहा है, उसे अपने काय घट में भी सुना जा सकता है। इसकी श्रवण विधियाँ साधनाशास्त्र में विभिन्न प्रकार से बताई गई हैं।

कुंडलिनीसाधना को प्रणव विद्या भी कहा गया है। उसके जागरण में जहाँ अन्यान्य विधि-विधानों का प्रयोग होता है, वहाँ उस संदर्भ में प्रणव तत्त्व को प्रायः प्रमुखता ही दी जाती है।

प्रकृतिः निश्चला परावाग्रूपिणी परप्रणवात्मिका कुण्डलिनीशक्तिः।

—प्रपंच सारतत्त्व

कुंडलिनी जागरण प्रयोग गायत्री महाविद्या के अंतर्गत ही आता है। पंचमुखी गायत्री में पंचकोशों की साधना पंचाग्नि विद्या कही जाती है,यही गायत्री के पाँच मुख हैं। गायत्री की प्राण-साधना का नाम सावित्री विद्या है, सावित्री ही कुंडलिनी है। गायत्री मंत्र में, गायत्री साधना में प्राणतत्त्व का अविच्छिन्न समावेश है। कहा गया है—

ॐकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति ब्राह्मणः सोऽन्यवीर्यजः॥

—योगसंध्या

ओंकाररूपी पिता और गायत्रीरूपी माता को जो ब्राह्मण नहीं जानता है, वह वर्णशंकर है।

गायत्री ही क्या किसी भी स्तुति, वेदमंत्र का शक्ति जागरण ओ३म्कार का समावेश किए बिना संभव नहीं होता। हर वेदमंत्र के उच्चारण में पहले ओ३मकार संयुक्त करना पड़ता है, तभी वह जाग्रत होता है, अन्यथा वह निर्जीव ही बना रहेगा।

न मामनीरयित्वा ब्राह्मण ब्रह्म वदेयुः।
यदि वदेयुः अब्रह्म तत् स्यात्॥

—गोपथ पूर्व २३

ओ३म्कार ने कहा कि मुझको उच्चारण किए बिना ब्राह्मण वेद मंत्र न बोलें, यदि बोलें तो वह वेद न रहे।

साधना-मार्ग पर जिस लक्ष्यवेध के लिए चला जाता है, उसमें ओं३म्कार को धनुष की तरह और आत्मा को बाण की तरह प्रयोग किया जाता है। आत्मा का अग्रगमन प्रणव धनुष की सहायता से ही होता है। कहा गया है—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

ओं३म्काररूपी धनुष में आत्मा का बाण चढ़ाकर स्फूर्तिपूर्वक ब्रह्म-लक्ष्य में वेध देना चाहिए।

कुण्डलिनी प्रणवरूपिणी॥

—शक्तितंत्र

महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराऽकृतिः॥

—योग कुंडलिनी उपनिषद्

अर्थात–कुंडलिनी प्रणव रूप है। महाकुंडलिनी को परब्रह्म स्वरूपिणी कहा गया है। यह शब्द ब्रह्ममय है। एक ओ३म् से अनेक अक्षरों की आकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं।

कुंडलिनी का आकार सर्पिणी जैसा बताया गया है। वह गुंजलक मारे सोती हुई पड़ी है और पूँछ को अपने मुँह में दबाए हुए है। इस आकृति को घसीटकर बनाने से ओ३म् शब्द बन जाता है। अस्तु, प्राण और उच्चारण सहित समर्थ को कुंडलिनी कहा गया है और उसी सजीव ओ३म् के उच्चारण का पूरा फल बताया गया है, जिसमें कुंडलिनी जाग्रति शक्ति का समन्वय हुआ है।

नादयोग की साधना के दो रूप हैं—एक तो अंतरिक्ष सूक्ष्म जगत से आने वाली दिव्य ध्वनियों का श्रवण, दूसरा अपने अंतरंग के शब्दब्रह्म का जागरण और उसका अभीष्ट क्षेत्र में अभीष्ट उद्देश्य के लिए परिप्रेषण यह शब्द उत्थान एवं परिप्रेषण ओ३म्कार साधना के माध्यम से ही बन पड़ता है।

साधारण रेडियो यंत्र- मात्र ग्रहण करते हैं, वे मूल्य की दृष्टि से सस्ते और संरचना की दृष्टि से सरल भी होते हैं, किंतु परिप्रेषण यंत्र ब्राडकास्ट, ट्रान्समीटर महँगे भी होते हैं और उनकी संरचना भी जटिल होती है। उनके प्रयोग करने की जानकारी भी श्रम साध्य होती है, जबकि साधारण रेडियो का बजाना बच्चे भी जानते हैं। रेडियो की संचार–प्रणाली तभी पूर्ण होती है, जब दोनों पक्षों का सुयोग बन जाए। यदि ब्राडकास्ट की व्यवस्था न हो तो सुनने का साधन कहाँ से बन पड़ेगा। जिस क्षेत्र में रेडियो का लाभ जाना है, वहाँ आवाज को ग्रहण करने की ही नहीं आवाज को पहुँचाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

नादयोग की पूर्णता दोनों ही प्रयोग–प्रयोजनों से संबद्ध है। कानों के छिद्र बंद करके दिव्यलोक से आने वाले ध्वनि–प्रवाहों को सुनने के साथ–साथ यह साधन भी रहना चाहिए कि साधक अपने अंतःक्षेत्र से शब्दशक्ति का उत्थान कर सके। इसी अभ्यास के सहारे अन्यान्य मंत्रों की शक्ति सुदूर क्षेत्रों तक पहुँचाई जा

सकती है। वातावरण को प्रभावित करने, परिस्थितियाँ बदलने एवं व्यक्तियों को सहायता पहुँचाने के लिए मंत्र शक्ति का प्रयोग परावाणी से होता है। चमड़े की जीभ से निकलने वाली वैखरी ध्वनि तो जानकारियों का आदान-प्रदान भर कर सकती है। मंत्र की क्षमता तो परा और पश्यंति वाणियों के सहारे प्रचंड बनती और लक्ष्य तक पहुँचती है। परावाक् का जागरण ओ३म्कार-साधना से संभव होता है। कुंडलिनी अग्नि के प्रज्वलन में ओ३म्कार को ईंधन की तरह प्रयुक्त किया जाता है—

अन्तरंगसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

—नादबिंदूपनिषद् ४६-४७

नाद के प्रणव में संलग्न होने पर वह ज्योतिर्मय हो जाता है, उस स्थिति में मन का लय हो जाता है। उसी को श्री भगवान विष्णु का परमपद कहा जाता है।

योग-साधना में चित्तवृत्तियों का निरोध और प्राणशक्ति की प्रखरता ये दो ही तत्त्व प्रधान हैं। इन दोनों ही प्रयोजनों के लिए ओ३म्कार का शब्द-साधना से अभीष्ट उद्देश्य सरलतापूर्वक सिद्ध होता है—

ओंकारोच्चारण प्रान्तशब्दतत्वानुभावनात्।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुद्धयते॥

—योगवासिष्ठ ५/७८/२१

ऊँचे स्वर से ओ३म्कार का जप करने पर शांतचित में जो शेष तुर्यमात्रा रूप—शब्दतत्त्व की अनुभूति होती है, उनके अनुसंधान से बाह्य चित्तवृत्तियों का जब बिलकुल उपराम हो जाता है, तब प्राणवायु का निरोध हो जाता है—

नादयोग की साधना में प्रगति-पथ पर दोनों ही चरण उठने चाहिए, यहाँ नाद श्रवण के साथ-साथ नाद उत्थान को भी साधनाक्रम

में सम्मिलित रखना चाहिए। कुंडलिनी जागरण साधना में नाद श्रवण में ओउम्कार की ध्वनि पकड़ने तक पहुँचना पड़ता है। अन्य शब्द तो मार्ग के मील पत्थर मात्र हैं। अनाहत ध्वनि को 'सुरति' तुर्यावस्था समाधि आदि को पूर्णता-बोधक आस्थाओं के समतुल्य माना गया है और अनाहत ध्वनि ओ३म्कार की श्रवण अनुभूति ही है। ओ३म्कार ध्वनि का नादयोग में इसलिए उच्च स्थान है।

नव शब्द परित्यज्य ओ३म्कारन्तु समाश्रयेत्।
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके ॥

—महायोग विज्ञान

नौ शब्द नादों की अपेक्षा करके ओ३म्कार नाद का आश्रय लेना चाहिए, समस्त नाद प्रणव में लीन होते हैं। ओ३म्कार की ध्वनि का "नाद" का आश्रय लेने वाला साधक सत्यलोक को प्राप्त करता है।

शब्दब्रह्म के, ओ३म्कार के उत्थान की साधना में हृदय आकाश से ओ३म्कार ध्वनि का उद्भव करना होता है। जिह्वा से मुख ओ३म्कार के उच्चारण का आरंभिक अभ्यास किया जाता है। पीछे उस उद्भव में परा और पश्यंति वाणियाँ ही प्रयुक्त होती हैं और ध्वनि से हृदयाकाश को गुंजित किया जाता है।

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम्॥
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥

—भागवत ११/१४/३४,४६

हृदय में घंटा की तरह ओ३मकार का अविच्छिन्न पद्म नालवत् अखंड उच्चारण करना चाहिए। प्राणवायु के सहयोग से पुनः-पुनः ओ३म् का जप करके बारंबार हृदय में गिराना चाहिए। इस तीव्र ध्यान-विधि से योगाभ्यास करने वाले का मन शीघ्र ही शांत हो जाता है और सारे सांसारिक भ्रमों का निवारण हो जाता है।

नादारंभे भवेत्सर्वगात्राणां भंजनं ततः।
शिरसः कंपनं पश्चात् सर्वदेहस्य कंपनम्॥

—योग रसायनम् २५४

नाद के अभ्यास के दृढ़ होने पर आरंभ में पूरे शरीर में हल-चल-सी मचती है, फिर सिर में कंपन होता है, इसके पश्चात संपूर्ण देह में कंपन होता है।

क्रमेणाभ्यासतश्चैवं श्रूयतेऽनाहतो ध्वनिः।
पृथग्विमिश्रितश्चापि मनस्तत्र नियोजयेत्॥

—योग रसायनम् २५३

क्रमशः अभ्यास करते रहने पर ही अनाहत ध्वनि पहले मिश्रित तथा बाद में पृथक स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ती है। मन को वहीं पर नियोजित करना चाहिए।

नाद श्रवण से सफलता मिलने लगे तो भी शब्दब्रह्म की उपलब्धि नहीं माननी चाहिए। नादब्रह्म तो भीतर से अनाहत रूप से उठता है और उसे ओ३म्कार के सूक्ष्म उच्चारण अभ्यास द्वारा प्रयत्नपूर्वक उठाना पड़ता है।

बाहरी शब्द वाद्य यंत्रों आदि के रूप में सुने जाते हैं, पर ओ३म्कार का नाद प्रयत्न भीतर से उत्पन्न करना पड़ता है—

नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च यः॥

—शिव संहिता ५/४०

अभ्यास करने से नाद की उत्पत्ति होती है, यह शीघ्र फलदाता है।

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

—हठयोग प्रदीपिका ४/१००

अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है, उस ध्वनि के भीतर स्वप्रकाश चैतन्य रहता है और उस ज्ञेय के भीतर मन रहता है और मन जिस स्थान में लय को प्राप्त होता है, उसी को विष्णु का परमधाम कहते हैं।

नादयोग की महिमा बताते हुए कहा गया है कि उसके आधार पर दृष्टि की, चित्त की स्थिरता अनायास ही हो जाती है। आत्मकल्याण का परम अवलंबन यह नादब्रह्म ही है।

दृष्टिः स्थिरा यस्य बिना सदृश्यः,
वायुः स्थिरो यस्य बिना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य बिनावलम्बं,
स ब्रह्म तारान्तरनादरूपम्॥

जिससे बिना दृश्य के दृष्टि स्थिर हो जाती है, जिससे बिना प्रयत्न के प्राणवायु स्थिर हो जाती है, जिससे बिना अवलंबन के चित्त का नियमन हो जाता है, वह अंतर नादरूपी ब्रह्म ही है।

नाद क्रिया के दो भाग हैं— बाह्य और अंतर । बाह्य नाद में बाहर की दिव्य आवाजें सुनी जाती है और बाह्य जगत की हलचलों की जानकारिया प्राप्त की जाती है और ब्रह्माण्डीय शक्तिधाराओं को आकर्षित करके अपने में धारण किया जाता है। अंतर्नाद में भीतर से शब्द उत्पन्न करके भीतर-ही-भीतर परिपक्व करके और परिपुष्ट होने पर उसे किसी लक्ष्य विशेष पर, किसी व्यक्ति के अथवा क्षेत्र के लिए फेंका जाता है और उससे अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति की जाती है—इसे धनुष बाण चलाने के समतुल्य समझा जा सकता है।

अंतर्नाद के लिए भी बैठना तो ब्रह्मनाद की तरह ही होता है, पर अंतर ग्रहण एवं प्रेषण का होता है। मुखासन से मेरुदंड को सीधा रखते हुए षड्मुखी मुद्रा में बैठने का विधान है। षड्मुखी मुद्रा का अर्थ है—दोनों अँगूठों से दोनों कान के छेद बंद करना। दोनो हाथों की तर्जनी और मध्यमा उँगलियों से दोनों आँखें बंद करना। दोनों अनामिका कनिष्ठाओं से दोनों नथुनों पर दबाव डालना, नथुनों पर इतना दबाव नहीं डाला जाता कि साँस का आवागमन ही रूक जाए।

ओंठ बंद, जीभ बंद, मात्र भीतर ही परा-पश्यंति वाणियों से ओ३म्कार का गुंजार-प्रयास, यही है—अंतर्नाद उत्थान। इसमें कंठ

से मंद ध्वनि होती रहती है, अपने आपको उसका अनुभव होता है और अंतश्चेतना उसे सुनती है। ध्यान रहे यह ओ३म्कार का जप या उच्चारण नहीं गुंजार है। गुंजार का तात्पर्य है—शंख जैसी ध्वनि-धारा एवं घड़ियाल जैसी थरथराहट का सम्मिश्रण। इसका स्वरूप लिखकर ठीक तरह नहीं समझा और समझाया जा सकता। इसे अनुभवी साधकों से सुना और अनुकरण करके सीखा जा सकता है।

साधना आरंभ करने के दिनों में दस-दस सेकण्ड के तीन गुंजार बीच-बीच में पाँच-पाँच सेकण्ड रुकते हुए करने चाहिए। इस प्रकार चालीस सेकण्ड का एक शब्द उत्थान हो जाएगा। इतना करके उच्चारण बंद और उसकी प्रतिध्वनि सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस प्रकार गुंबजों में, पक्के कुओं में, विशाल भवनों में, पहाड़ों की घाटियाँ में जोर से शब्द करने पर उसकी प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अपने अंतःक्षेत्र में ओ३म्कार गुंजार के छोड़े हुए शब्द-प्रवाह की प्रतिध्वनि उत्पन्न हुई अनुभव करनी चाहिए पूरी तरह ध्यान एकाग्र करने पर इस सूक्ष्म प्रतिध्वनि का आभास होता है। आरंभ में बहुत प्रयत्न से, बहुत थोड़ी-सी अतीव मंद रुक-रुककर सुनाई पड़ती है, किंतु धीरे-धीरे उसका उभार बढ़ता चलता है और ओ३म्कार की प्रतिध्वनि अपने ही अंतराल में अधिक स्पष्ट एवं अधिक समय तक सुनाई पड़ने लगती है, स्पष्टता एवं देरी को इस साधना की सफलता का चिह्न माना जा सकता है।

ओ३म्कार की उठती हुई प्रतिध्वनि अंतःक्षेत्र के प्रत्येक विभाग को, क्षेत्र को प्रखर बनाती है। उन संस्थानों की प्रसुप्त शक्ति जगाती है, उससे आत्मबल बढ़ता है और छिपी हुई दिव्यशक्तियाँ प्रकट होती एवं परिपुष्ट होती हैं।

समयानुसार इसका उपयोग शब्दवेधी बाण की तरह, प्रक्षेपास्त्र की तरह हो सकता है। भौतिक एवं आत्मिक हित- साधन के लिए इस शक्ति को समीपवर्ती अथवा दूरवर्ती व्यक्तियों तक भेजा जा सकता है और उनको कष्टों से उबारने तथा प्रगति- पथ पर अग्रसर

करने के लिए उसका उपयोग किया जा सकता है। वरदान देने की क्षमता, परिस्थितियों में परिवर्तन कर सकने जितनी समर्थता जिस शब्दब्रह्म के माध्यम से संभव होती है, उसे ओ३म्कार गुंजार के आधार पर भी उत्पन्न एवं परिपुष्ट किया जाता है।

पुरानी परिपाटी में षड्मुखी मुद्रा का उल्लेख है। मध्यकाल में उसकी आवश्यकता नहीं समझी गई और कान को कपड़े में बँधे मोम की पोटली से कर्ण छिद्रों को बंद कर लेना पर्याप्त समझा गया। इससे दोनों हाथों को गोदी में रखने और नेत्र अर्धोन्मीलित रखने की ध्यानमुद्रा ठीक तरह सधती और सुविधा रहती थी। अब अनेक आधुनिक अनुभवी श्वासन शिथिलीकरण मुद्रा में अधिक अच्छी तरह ध्यान लगने का लाभ देखते हैं। आराम कुरसी का सहारा लेकर शरीर को ढीला छोड़ते हुए नादानुसंधान में अधिक सुविधा अनुभव करते हैं। कान बंद करने के लिए ठीक नाप के शीशियों वाले कॉर्क का प्रयोग कर लिया जाता है। इनमें से किससे, किसे, कितनी सरलता एवं सफलता मिली ? यह तुलमात्मक अभ्यास करके जाना जा सकता है। इनमें से जिसे जो प्रयोग अनुकूल पड़े, वह उसे अपना सकता है। सभी उपयोगी एवं फलदायक हैं।

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा